'मुखड़ा क्या देखे' में अभिव्यक्त भारतीय जन–जीवन की समस्याएँ

(एम.फिल्. हिन्दी उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध)

2002

शोध–निर्देशक
डॉ. ओम प्रकाश सिंह

शोधकर्ता
राजीव रंजन सिन्हा

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली– 110067

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
CENTER OF INDIAN LANGUAGES
LANGUAGE LITERATURE & CULTURE STUDIES
NEW DELHI- 110067 INDIA

17 July 2002

Declaration

I declare that the work done in this dissertation entitled "***Mukhra Kya Dekhe Mein Abhivyakt Bhartiya Jan-Jeevan Ki Samasyaen***" by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this, or any other University/Institution.

RR 1-8-5

Rajiv Ranjan Sinha
(Research Scholar)

Dr. OM PRAKASH SINGH
(Supervisor)
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Cultural Studies

Prof. MANAGER PANDEY
(Chairperson)
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Cultural Studies

GRAM: JAYENU TEL.: 6107676, 6167557 TELEX : 031-73167 JNU IN FAX : 91-011-6865886

अम्माँ जी एवम् पापा जी को समर्पित

अनुक्रम

	पृष्ठ संख्या
पूर्व पीठिका	i-ii
प्रथम अध्याय अब्दुल बिस्मिल्लाह की औपन्यासिक यात्रा	1—30
द्वितीय अध्याय 'मुखड़ा क्या देखे': बदलते भारत का बदलता मुखड़ा	31—66
तृतीय अध्याय 'मुखड़ा क्या देखे' : उपलब्धि और सीमाएँ	67—84
संदर्भ ग्रंथ सूची	85—86
परिशिष्ट अब्दुल बिस्मिल्लाह से साक्षात्कार	1-5

पूर्व पीठिका

उपन्यास साहित्य का जन्म आधुनिक सामाजिक चिंता की देन है। आरंभ से ही इसकी केन्द्रीय धारा समाज सुधार की चिंता से प्रेरित साहित्य के रूप में दिखाई देती है। हिन्दी में भी 'परीक्षागुरू' जैसे आरंभिक उपन्यासों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। प्रेमचंद काल तक उपन्यास सामाजिक समस्याओं के विरूद्ध एक हथियार के रूप में स्थापित हो जाता है।

प्रेमचंद के बाद यशपाल, अमृतराय, भैरव प्रसाद गुप्त, शिव-प्रसाद सिंह, श्रीलाल शुक्ल जैसे उपन्यासकार उपन्यास के इस स्वरूप को और पुष्ट करते हैं। समकालीन उपन्यासकार अब्दुल बिस्मिल्लाह उपन्यासकारों की इसी परंपरा में आते हैं।

आमतौर पर हिन्दी में लिखने वाले मुस्लिम उपन्यासकारों ने विभाजन के दर्द और सांप्रदायिकता को ही अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। देश की अन्य समस्याओं पर उनका ध्यान कम ही गया है। अब्दुल बिस्मिल्लाह इस लिहाज़ से इन उपन्यासकारों से अलग नज़र आते हैं। अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यासों में हिन्दू या मुसलमान की समस्याओं के चित्रण की बजाय व्यापक परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज की उन सभी समस्याओं को सामने लाने का प्रयास किया गया है, जो समाज की जड़ों को खोखला बना रही हैं।

'मुखड़ा क्या देखे' में हिन्दू और मुस्लिम समुदाय के साथ–साथ ईसाई समुदाय भी अपनी समस्याओं के साथ मौजूद है। आज़ाद भारत की समस्याओं के अध्ययन की दृष्टि से 'मुखड़ा क्या देखे' एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। शोध के लिए इस उपन्यास के चयन के पीछे मुख्य रूप से यही उद्देश्य था। गुरूवर डॉ. ओमप्रकाश सिंह से इसकी चर्चा की तो उन्होंने प्रोत्साहित किया। इस प्रकार 'मुखड़ा क्या देखे' पर शोध की भूमिका बनी।

प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध में कुल तीन अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय 'अब्दुल बिस्मिल्लाह की औपन्यासिक यात्रा' में लेखक की औपन्यासिक दृष्टि की चर्चा करते हुए 'मुखड़ा क्या देखे' से पूर्व प्रकाशित उनके चार उपन्यासों– 'समर शेष है', झीनी–झीनी बीनी चदरिया', 'जहरबाद' और 'दंतकथा' का संक्षिप्त विश्लेषण किया गया है और इस आधार पर बिस्मिल्लाह के उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्तियों को निरूपित करने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय 'मुखड़ा क्या देखे : बदलते भारत का बदलता मुखड़ा' में 'मुखड़ा क्या देखे' को आधार बनाकर स्वतंत्र भारत की विभिन्न समस्याओं के अध्ययन की कोशिश की गयी है।

तृतीय अध्याय 'मुखड़ा क्या देखे : उपलब्धि और सीमाएँ' है। स्पष्टतया इसमें 'मुखड़ा क्या देखे' का प्रवृत्तिगत विश्लेषण करते हुए इसकी विशिष्टताओं और कमजोरियों को निरूपित करने का प्रयास किया गया है। साथ ही, प्रवृत्तियों के आधार पर 'गोदान', 'आधा गाँव', 'राग दरबारी' आदि उपन्यासों से इसकी तुलना भी की गयी है।

'मुखड़ा क्या देखे' पर छिटपुट समीक्षाओं को छोड़कर कोई गंभीर कार्य नहीं हुआ है। उपन्यास से संबंधित कई उलझनें थीं, जिनका समाधान नहीं हो पा रहा था। अब्दुल बिस्मिल्लाह के साथ साक्षात्कार ने काफी हद तक उन उलझनों का समाधान किया। यह साक्षात्कार परिशिष्ट में शामिल किया गया है।

प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध के पूर्ण होने में कई लोगों का महत्त्वपूर्ण योगदान है, जिनकी मदद के बिना इसका पूरा होना मुश्किल था।

गुरूवर डॉ. ओम प्रकाश सिंह ने विषय चयन में सहायता के अतिरिक्त न सिर्फ समय–समय पर मार्गदर्शन द्वारा मेरे कार्य को सरल बनाया, बल्कि डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह से मुलाकात भी करवायी। उनकी इस कृपा के लिए मैं सिर्फ कृतज्ञ ही हो सकता हूँ। डॉ. बिस्मिल्लाह ने भी अपने व्यस्त समय में से कुछ घंटे मुझे देकर मेरी कई उलझनों का समाधान किया जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

कुछ पारिवारिक समस्याओं के कारण ऐसा लगने लगा था कि मैं यह कार्य वक्त पर पूरा नहीं कर पाऊँगा, परंतु मेरी समस्या को मित्रों ने मुझ से ज्यादा अपनी समझा और उनके सहयोग से सब कुछ आसानी से होता चला गया। सत्यपाल जी, अजीत जी, भूषण, नवलेन्द्र, अवस्थी और प्रमोद को धन्यवाद देकर मैं उनकी मित्रता और उनके स्नेह पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाना चाहता।

और अंत, में विक्रम का शुक्रगुज़ार हूँ, जिसने टंकण करने के लिए इतनी व्यग्रता दिखाई, जितनी मैं टंकण करवाने के लिए नहीं दिखा पाया।

इति।

राजीव रंजन सिन्हा

262 (O)
ब्रह्मपुत्र छात्रावास
ज.ने.वि., नई दिल्ली–67

अध्याय 1

अब्दुल बिस्मिल्लाह की औपन्यासिक यात्रा

प्रस्थान बिंदु

नवीनतम उपन्यास 'मुखड़ा क्या देखें' सहित अब्दुल बिस्मिल्लाह के पाँच उपन्यास अब तक प्रकाशित हैं। इनके अन्य चार उपन्यास हैं – 'समर शेष है', 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया', 'जहरबाद' और 'दंतकथा।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के इन पाँचों उपन्यासों में एक खास तरह की निरंतरता दिखाई देती है। निरंतर विकसित होती हुई दृष्टि जो सदैव शोषितों के पक्ष में खड़ी है– अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यासों को एक विशिष्ट पहचान देती है। अब्दुल बिस्मिल्लाह के अनुसार– "उपन्यास लिखने का अर्थ है इतिहास लिखना। जो इतिहासकारों ने लिखे हैं, उनमें मूलतः राजाओं–महाराजाओं, शहंशाहों–नवाबों के पराक्रम हैं। जीवन भी उन्हीं का है। प्रजा अर्थात् जनता का जीवन यदि है भी तो उन्हीं के संदर्भ से उसे जोड़कर देखा गया है। फिर सामान्य आदमी का इतिहास कहाँ है? वह साहित्य में है। पता नहीं इस बात से सहमति होगी या नहीं कि मुख्यतः उपन्यास में है।"[1] अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास उनके इस दावे पर बिल्कुल खरे उतरते हैं। ये उपन्यास प्रजा के भी सबसे निचले तबके के प्रामाणिक इतिहास के रूप में सामने आते हैं। बुनकर, चुड़िहार, हड्डियाँ बीनने वालों के जीवन का ऐसा प्रामाणिक अंकन बिस्मिल्लाह के उपन्यासों को छोड़कर कहीं और नहीं दिखता।

अब्दुल बिस्मिल्लाह प्रतिबद्ध मार्क्सवादी रचनाकार अवश्य हैं, परंतु वे मार्क्सवादी सिद्धांतों को सामने रखकर उपन्यास नहीं लिखते। स्वयं बिस्मिल्लाह के अनुसार "मैं तो जो लिखता हूँ, वो न सोच कर लिखता हूँ, न पढ़ कर लिखता हूँ, जो कुछ देखा है, जो कुछ जिया है, उसके बहुत से बिंब हैं मस्तिष्क में– वो आते रहते हैं।"[2] जीवन के इन्हीं बिम्बों के माध्यम से बिस्मिल्लाह ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करते हैं कि शोषण पर आधारित व्यवस्था अपने सभी हथकंडों के साथ प्रत्यक्ष हो उठती है। बिस्मिल्लाह के यहाँ आर्थिक शोषण सबसे बड़ी समस्या के रूप में सामने आता है। समाज का निम्न वर्ग– चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान– उच्च वर्ग के शोषण का शिकार है। शोषकों में भी हिंदू और मुसलमान दोनों हैं, जो शोषण करते वक्त हिन्दू और मुसलमान का कोई भेद नहीं करते। हिन्दी के मुस्लिम उपन्यासकारों के यहाँ सांप्रदायिकता एक मुख्य समस्या के रूप में सामने आती है, परंतु बिस्मिल्लाह इस लिहाज़ से अन्य मुस्लिम उपन्यासकारों से अलग नज़र आते हैं। उनके अनुसार तो मुस्लिम लेखन जैसा वर्गीकरण ही गलत है– "समकालीन उपन्यास से संबंधित जब कभी कोई लेख दिखाई पड़ता है तो उसमें अलग से कुछ इस किस्म का वाक्य लिखा

हुआ मिलता है, 'इधर हिन्दी में कुछ मुसलमान कथाकार भी आए हैं, जिन्होंने मुस्लिम समाज को चित्रित करने वाले उपन्यास लिखे हैं।' गनीमत है कि अभी सिख उपन्यासकारों के नाम अलग से नहीं गिनाये जाते। लेकिन महिला उपन्यासकार तो हैं ही। अब दलित उपन्यासकार भी कहे जा रहे हैं। समझ में नहीं आता कि समीक्षा या आलोचना का यह कौन सा रूप है?"[3] यहाँ उल्लेखनीय है कि 'हंस' के जिस अंक में बिस्मिल्लाह ये विचार व्यक्त करते हैं, उसी अंक के दो लेखों में उन्हें मुस्लिम–लेखन के अंतर्गत वर्गीकृत किया गया है। वस्तुतः वर्गीकरण की इस पद्धति को पूरी तरह से गलत भी नहीं ठहराया जा सकता। स्वयं बिस्मिल्लाह भी इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि मुस्लिम उपन्यासकारों ने आमतौर पर मुस्लिम समाज को ही अपना प्रतिपाद्य बनाया है। 'मुखड़ा क्या देखे' को छोड़कर बिस्मिल्लाह के अन्य उपन्यासों की पृष्ठभूमि में भी मुस्लिम समाज ही रहा है।

प्रेमचंद, यशपाल और अमृतलाल नागर ने मुस्लिम समाज को अपनी रचनाओं का प्रतिपाद्य बनाया, परंतु उनके बाद कोई ऐसा गैर मुस्लिम रचनाकार नहीं मिलता, जिसके यहाँ मुस्लिम समाज का प्रामाणिक अंकन मिलता हो। कुछ गैर मुस्लिम रचनाकारों के यहाँ मुस्लिम समाज इतनी उथली जानकारी के बल पर रचा गया कि शानी ने गैर मुस्लिम रचनाकारों पर मुस्लिम समाज के विकृत चित्रण का आरोप ही लगा दिया। निष्कर्षतः मुस्लिम समाज की प्रामाणिक जानकारी के लिए मुस्लिम उपन्यासकारों की ही शरण में जाना होगा। हालाँकि बिस्मिल्लाह इससे अलग राय व्यक्त करते हुए कहते हैं– "जरूरी नहीं है कि मुस्लिम लेखकों को पढ़ कर मुस्लिम समाज को जान पाएँ। जो मुसलमान लेखक सामने आए भी उन्होंने अभिजात वर्ग का ही प्रतिनिधित्व किया। लेकिन समाज कहते हैं तो उसमें सिर्फ सैयद और खाँ साहब और फलाने ... तो नहीं होते। उर्दू में भी, जहाँ अधिकांश मुस्लिम लेखक ही हैं, मुस्लिम समाज 'टोटेलिटी' में नहीं दिखाई पड़ता। इसको आत्मप्रशंसा न समझें, लेकिन शायद मैंने ही इन चीजों को अपनी कहानियों और उपन्यासों में उठाया है। ऐसी 'कम्यूनिटीज' को जो मुसलमान हैं, लेकिन उनकी समस्याओं में और एक हिंदू की समस्याओं में कोई फर्क नहीं है।"[4]

बिस्मिल्लाह का यह दावा बिल्कुल सही है और इसी दृष्टि से इनके उपन्यास परंपरागत मुस्लिम लेखन से अलग वर्गीकरण और अध्ययन की माँग करते हैं।

औपन्यासिक यात्रा

'जहरबाद' प्रकाशन की दृष्टि से लेखक का तीसरा उपन्यास है, परंतु वस्तुतः यह प्रथम प्रकाशित उपन्यास 'समर शेष है' से पूर्व की कथा है। 'जहरबाद' की कथा–भूमि मध्यप्रदेश के मंडला जिले का एक ग्रामीण अंचल 'हिनौता' है। हिनौता कथावाचक 'मैं' का ननिहाल है, जहाँ वह अपने माँ–बाप के साथ रहता है। 'मैं' का परिवार ही नहीं, बल्कि गाँव के अधिकांश परिवार आर्थिक अभाव की चक्की में पिस रहे हैं। त्रिलोचन के अनुसार, –"इस उपन्यास में ऐसे चरित्रों का निरूपण हुआ है, जो गरीबी की रेखा के बहुत नीचे पाए जाते हैं। दरअसल यह उपन्यास ग्रामीण परिवेश में जीवन के अस्तित्व के लिए संघर्षरत अर्द्ध सर्वहारा लोगों की कहानी है।"[5]

'मैं' की माँ टोकरी में किराने का सामान लेकर गाँव–गाँव में बेचती है, जिसके बल पर तीन व्यक्तियों के उस परिवार का जीवन चलता है। गरीबी का यह आलम है कि कुल संपत्ति के नाम पर है– "एक ओर गल्ला रखने का कुठला और उसके पीछे चूल्हा। चूल्हे के पास कुछ घड़े और एक टूटा हुआ बक्सा। ऊपर कथरियों और मेरे धब्बेदार पैजामा–कमीज से ढँकी अलगनी। एक ओर दीवार पर खूँटी में अटका अब्बा का खाकी कोट, जो धुँए और रौं से चीकट हो गया था...।"[6] परंतु शुरू से उनकी ऐसी हालत नहीं थी। 'मैं' के दादा बहुत बड़े जमींदार थे। "घर में कई–कई नौकर थे, लेकिन अब्बा ने शौकियन नौकरी की थी, जंगल विभाग में। महीने में बारह रूपये मिलते थे, जिससे वे हर महीने कलकतिया धोती खरीदते थे।"[7] जंगल की नौकरी के कारण ही उन्हें मध्य प्रदेश आना पड़ा। जमींदारी धीरे–धीरे समाप्त होती गयी और बची–खुची जायदाद चचेरे भाईयों ने अपने नाम लिखा ली। अधिकारी से कहा–सुनी हो जाने के बाद 'मैं' के अब्बा ने नौकरी छोड़ दी और लुटे–पिटे अपने घर जाने की बजाय मध्य प्रदेश के उसी इलाके में रहना पसंद किया, जहाँ उनकी ससुराल भी थी।

नौकरी छोड़ने के बाद 'मैं' के अब्बा के पास कोई निश्चित काम–धंधा नहीं रह गया। चमड़े के कारोबार से लेकर हड्डियाँ इकट्ठी करने तक कई धंधों में हाथ आजमाने के बावजूद वे घर की बची–खुची संपत्ति नष्ट करने के अतिरिक्त, कुछ खास नहीं कर सके। पत्नी के जेवर रेहन रखकर चमड़े का व्यवसाय प्रारंभ किया, परंतु बड़े व्यापारियों के आगे कामयाब नहीं हो सके– उल्टे सारा पैसा फँस जाने के कारण भूखों मरने की नौबत आ गयी।

कोई और विकल्प नहीं होने के कारण 'मैं' की अम्माँ को टोकरा उठाकर गाँव–गाँव घूमना पड़ा। जब किसी तरह घर का खर्च चलने लगा तो 'मैं' के अब्बा

और निश्चिंत हो गए और खाली वक्त का 'सदुपयोग' मछलियों के शिकार में करने लगे। पत्नी द्वारा टोके जाने पर वे गाहे–बगाहे उसकी पिटाई से भी नहीं चूकते थे। इस प्रकार पिता द्वारा माँ की पिटाई 'मैं' के लिए रोजमर्रा की बात हो गई थी, जिसे वह निर्विकार भाव से देखा करता था। वस्तुतः उसका बाल मस्तिष्क इन झगड़ों के पीछे के वास्तविक कारण को भली भाँति पहचान रहा था और इसी कारण इन सबके बावजूद वह अपने पिता के प्रति क्रूर नहीं हो पा रहा था– "सारी लड़ाई की जड़ है पैसा। घर में खाने को नहीं है, इसलिए झगड़ा हो रहा है। न अब्बा कुछ कर पा रहे हैं, न अम्माँ।"[8] पैसा कमाने के लिए कई–कई जतन किए जाते हैं। चुनाव के दिनों में राजनीतिक पार्टी के पोस्टर चिपकाए जाते हैं; इस आशा में कि, 'हमारी पार्टी' जीत जाएगी तो सारे दुख–दर्द मिट जाएँगे, परंतु पार्टी की जीत पर मिलते हैं– सिर्फ ग्यारह रूपये। ये ग्यारह रूपये किसी भी तरह दुख–दर्द मिटाने के लिए नाकाफी थे। अब 'मैं' के अब्बा ने शहर के व्यापारी के लिए बीड़ी के पत्तों की खरीद का काम शुरू किया, परंतु, जहाँ तक पैसों का सवाल है, यहाँ भी निराशा ही हाथ लगी। 'मैं' के अब्बा ने "अम्माँ से वादा किया था कि बकरीद में वे जरूर उनके लिए साड़ी लाएँगे। पर बार–बार दौड़ने के बावजूद लाल बाबू ने उन्हें पैसे नहीं दिए।... अब्बा ने बड़ी मिन्नतें कीं, परंतु सिवा लच्छेदार बातों और कुर्बानी के गोश्त के कुछ टुकड़ों के, उनके हाथ कुछ नहीं लगा।"[9] घर की स्थिति ने बालक 'मैं' को छोटी उम्र में समझदार बना दिया और वह स्वयं भी पैसा कमाने के प्रयत्न करने लगा। 'खिचरी' के दिन वह पड़ोसी साबुनलाल के साथ घर–घर जाकर अनाज माँगता है, ताकि उन्हें बेचकर अपने लिए एक गर्म स्वेटर खरीद सके, परंतु अंततः उसे एक पुराना सूती स्वेटर ही प्राप्त होता है, क्योंकि कई और चीज़ें घर के लिए उसके स्वेटर से ज्यादा जरूरी थीं। वह कभी गेंहूँ के कट चुके खेतों से बालियाँ बीनता है, तो कभी तेंदू के पत्ते एकत्र करता है, ताकि भोजन की कोई व्यवस्था कर सके; परंतु, इन सबके बाद भी स्थिति यह है कि भूख मिटाने के लिए उसे टेसू की जड़ें चबानी पड़ती हैं– "पता नहीं भूख के कारण या अपने स्वाभाविक गुण के कारण मुझे वे जड़ें बहुत स्वादिष्ट लगीं। मुझे ऐसा लगा जैसे मैं दूध की छीमियाँ चबा रहा हूँ।"[10]

अकाल–पीडितों की सहायता के लिए सरकार ने सड़क बनवाना प्रारंभ किया, जिसमें सबको काम दिया जाने लगा। बालक 'मैं' भी अपने पिता के साथ काम पर जाने लगा। वह काम पर जाने वाला अकेला बालक नहीं था, बल्कि कई माता–पिता अपने उन बच्चों को काम पर ले जा रहे थे, जिनके खेलने के दिन भी अभी खत्म नहीं हुए थे। ये बच्चे खेलने की बजाय मजदूरी कर रहे थे, ताकि घर के लिए राशन जुटा

सकें। भूख और गरीबी ने इन बच्चों को असमय ही उनके बचपन से जुदा कर दिया था– "शाम को जब उछलते–कूदते, गीत अलापते हुए, घर लौटते वक्त सभी लोग मस्ती के आलम में होते, तब मैं अपने हाथों को छाती पर दबाए ठिठुरता हुआ अब्बा के पीछे खामोश चलता होता था। ऐसा लगता था मानो मेरे भीतर का बचपना निःशेष हो गया हो। कभी–कभी मैं सोचा करता था कि यदि खेतों में पैदावार हुई होती तो बजाय सड़क पर पत्थर ढोने के मैं खेतों से खरिहानी वसूलता और बाकी समय में गेंद खेलता या खेतों में जब चने के पौधे तैयार हो जाते तो लड़के लड़कियों के साथ वहाँ जाकर चना–भाजी खाता। लेकिन अपने ही विचारों से मैं पीड़ित होकर उदास हो जाता।"[11] सड़क का काम खत्म होने के बाद 'अब्बा' ने हड्डियाँ खरीदने का काम प्रारंभ किया। बालक 'मैं' भी ममेरे भाई रफ़ीक़ के साथ हड्डियाँ इकट्ठा करने के काम में लग गया और हड्डियों के बोरे के साथ पिता के समक्ष पहुँचा, ताकि उन्हें तुलवा कर पैसे प्राप्त कर सके– "रफीक भैया के साथ मुझे देखकर अब्बा चौंके। उन्हें अब तक शायद यह नहीं मालूम था कि मैं भी हड्डियाँ बीनने जैसा घृणित काम करके आया हूँ। लेकिन उस वक्त मेरे चेहरे की जो हालत थी, वही शायद मेरी पोल खोले दे रही थी। अब्बा दुखी हो उठे।...

... मैं अपने ही बाप के सामने एक मजूर के रूप में खड़ा था... यह मेरे अब्बा का दोष था या मेरा, मैं समझ नहीं सका। शायद अब्बा भी इस चीज को समझ नहीं पा रहे थे। आश्चर्य तो मुझे इस बात का हुआ कि वे मुझ पर नाराज नहीं हुए। यथार्थ शायद बहुत ज्यादा कठोर हो गया था।"[12] हैरत की बात यह है कि जिस कठोर यथार्थ को 'मैं' महसूस कर रहा था और उससे लड़ने की कोशिश कर रहा था, उसे उसके अब्बा महसूस नहीं कर पा रहे थे या फिर जान बूझ कर उस कठोर यथार्थ से आँखे चुरा रहे थे। अपनी हर नाकामी का ठीकरा पत्नी के सिर पर फोड़ना और बात बेबात उसकी पिटाई करना उनकी आदत बन गयी थी– "अब्बा एकदम से जानवर हो गए थे। फिर अम्माँ के शरीर पर लगातार लातों, घूँसों और जूतों का प्रहार होने लगा, मगर वे चुप थीं। उन्होंने न कोई प्रतिवाद किया, न किसी प्रकार की सफाई दी। वे चीखी–चिल्लायी भी नहीं। जब तक अब्बा थक नहीं गए, अम्माँ को कुचलते रहे और वे निर्विरोध पिटती रहीं।"[13] 'मैं' इसका कारण आर्थिक अभावों को बताता है– "देखते–देखते एक मनुष्य अभावों के कारण जहरीले जीव में परिवर्तित हो गया था... ।"[14]

पिटाई का यह सिलसिला धीरे–धीरे तलाक तक जा पहुँचता है। 'मैं' की नज़र में इसके पीछे भी आर्थिक कठिनाइयाँ ही थीं– "दोपहर होते–होते हमारी परछी में

काफी लोग जमा हो गए थे। साथ ही बाहर भी औरतों–मर्दों की अच्छी–खासी भीड़ इकट्ठी हो गयी थी और मैं देख रहा था कि किस प्रकार आर्थिक कठिनाइयों से संघर्ष करता हुआ कोई परिवार अंततः एक तमाशा बन कर रह जाता है।"[15] वस्तुतः इन सबके पीछे कारण सिर्फ आर्थिक अभाव ही नहीं है, बल्कि पुरूषवादी सामंती मानसिकता भी है। 'मैं' के अब्बा को यह बर्दाश्त नहीं कि उसकी पत्नी उसके कार्यों पर टीका–टिप्पणी करे, भले ही वह पत्नी की कमाई खा रहा हो। अगर पत्नी की जुबान ज्यादा खुल रही है तो उसे चुप कराने का सबसे अच्छा इलाज है पिटाई। इससे भी बात न बने तो तलाक का हथियार है ही। एक से अधिक शादियाँ करना या अपनी पत्नी को तलाक देना 'मैं' के अब्बा के लिए नया काम नहीं था– "दादा ने दो शादियाँ की थीं और अब्बा ने चार। पहली बीबी को तलाक दिया, दूसरी मर गयी, तीसरी को पुनः तलाक दिया और अम्माँ चौथी बीबी के रूप में आयीं।"[16] निश्चय ही पहली बीबियों को तलाक देने के पीछे आर्थिक कारण नहीं थे, क्योंकि उन दिनों वे जंगल विभाग की अच्छी नौकरी में थे। 'मैं' की अम्माँ को भी तलाक देने के पीछे ज्यादा महत्वपूर्ण कारण थे पुरूषवादी अहं और अनमेल विवाह के कारण उत्पन्न संदेह। 'मैं' के अब्बा को यह संदेह था कि उसकी पत्नी उसके बुढ़ापे का नाजायज फायदा उठा रही है– "मैं बूढ़ा हूँ इसका मतलब यह तो नहीं कि कुछ समझता नहीं हूँ। मेरे बुढ़ापे का वह नाजायज फायदा उठाना चाहती है, मैं इसे कतई बर्दाश्त नहीं करूँगा।"[17] 'मैं' की अम्माँ की सहेली फुलझर का प्रेम–संबंध गाँव के ही युवक लोखरी के साथ था। मैं की अम्माँ इन दोनों के बीच मध्यस्थ का काम करती थी तथा कभी–कभी उन्हें मिलने के लिए अपने घर में स्थान भी उपलब्ध करा देती थी। इसी कारण लोखरी यदा–कदा 'मैं' के यहाँ आया करता था। इस बात ने 'मैं' के अब्बा के संदेह को और भड़का दिया और बात अंततः तलाक तक पहुँच गयी।

'मैं' की अम्माँ तलाक के बाद ज्यादा दिनों तक जीवित नहीं रह सकी और जल्दी ही अपनी उपेक्षित बहिष्कृत जिंदगी से मुक्ति पा गयी। किनारा कर लिया उस संसार से जिसने चरित्रहीनता का बिल्ला लगा कर उसे बहिष्कृत कर दिया था।

लेखक ने 'मैं' की अम्माँ के माध्यम से इस पुरूष–प्रधान समाज में स्त्री की दुरवस्था को भली–भाँति चित्रित किया है– "एक घाटी में पकरी के एक पेड़ के नीचे अम्माँ टेढ़ी–मेढ़ी होकर पड़ी थीं। मुँह उनका खुला था और कत्थे रंगे दाँत फैले हुए थे। पेट पिचक गया था तथा टाँगों पर से धोती सरक गयी थी। उनके विषैले जिस्म पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं और रह रह कर पकरी के कच्चे फल उनके निस्पंद शरीर पर पट–पट गिर रहे थे।"[18]

'जहरबाद' सिर्फ 'मैं' या उसके परिवार की कथा नहीं है, बल्कि इस रूग्ण समाज की कथा है। समाज, जिसका ज़ख्म नासूर बन गया है। 'मैं' के शब्दों में, "जिसे मैंने छोटा–सा फोड़ा भर समझ रखा है वह भीतर ही भीतर काफी दूर तक फैल गया है। ऊपर से भले ही वह शुष्क दिखाई दे रहा हो पर उसकी तह में मर्मांतक टीसें भरी हुई हैं, उसकी पर्तों में जहरीले कीड़े बिलबिला रहे हैं। वह फोड़ा–वह जहर ही हमारा जीवन है, जिसे हम किसी मजबूरी की भाँति जी रहे हैं।"[19]

समूचे जीवन में जहर फैल गया है, फिर भी ज़िंदगी नहीं रूकती। जीवन के कठोर यथार्थ के बीच ऐसे पल आते रहते हैं, जो कुछ पल के लिए सारे दुख भुला देते हैं। लेखक गाँव में होने वाले तीज–त्यौहार, नाच–गानों का बारीकी के साथ वर्णन करता है। कैसे हैं ये इंसान और कैसी है इनकी जिजीविषा, जो तमाम दुखों के बीच भी इन्हें हँसने–गाने की ओर प्रवृत करती है। माँदर और चिकारा की गूँजें अभावों की पीड़ा को अपने साथ उड़ा ले जाती हैं। लेखक ने शैला–रीना, करमा जैसे लोकनृत्यों एवं मड़ई, खुजलैयाँ, फुलरा जैसे स्थानीय उत्सवों का विस्तार से वर्णन किया है। स्थानीय भाषा का प्रयोग कथ्य को प्रामाणिकता प्रदान करता है।

उपन्यास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है, बाल मनोविज्ञान का सफल प्रयोग। पूरी कथा बालक 'मैं' की दृष्टि से कही गयी है। माता–पिता के संबंधों का बालक 'मैं' पर प्रभाव, दोनों के प्रति उसकी सहानुभूति और कभी–कभी दोनों के प्रति क्रोध– ये सभी प्रसंग मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यंत विश्वसनीय बन पड़े हैं।

लोखरी और फुलझर का प्रेम–प्रसंग तथा उनके प्रति बालक 'मैं' के विचारों को लेखक ने विस्तार से चित्रित किया है। कैशौर्य की ओर बढ़ते 'मैं' का फुलझर के प्रति आकर्षित होना अत्यंत सहज है। लोखरी के प्रति उसकी नापसंदगी का कारण भी यही है कि लोखरी फुलझर का प्रेमी है। कैशोर्य की ओर बढ़ते बालक के ये विचार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यंत विश्वसनीय हैं। अपनी ममेरी बहन शहीदन के साथ 'मैं' के संबंधों को इस दृष्टि से देखा जा सकता है– "चूंकि शहीदन उम्र में मुझसे काफी बड़ी थी इसलिए और मामलों में वह मुझसे अधिक जानती थी। अतएव कभी–कभी वह मुझे छेड़ा भी करती थी, जिससे मेरे भीतर भी विचित्र प्रकार का तनाव उत्पन्न होने लगता था।"[20]

कटु दांपत्य संबंधों के कारण परस्पर विरक्त माँ–बाप बच्चों पर पूरा ध्यान नहीं दे पाते, जिससे बच्चे आसानी से कुसंगति की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। माँ–बाप की

लापरवाही के कारण 'मैं' भी चोरी करने, बीड़ी पीने और ताश खेलने जैसी गंदी आदतें सीख रहा था, जिसे लेखक पूरी मनोवैज्ञानिक समझ के साथ चित्रित करता है।

इस प्रकार लेखक ने एक विकासमान बालक के जीवन में घटने वाली हर अच्छी–बुरी घटना को पूरी सच्चाई एवं तन्मयता के साथ चित्रित किया है। इसी कारण यह उपन्यास इतना विश्वसनीय बन पड़ा है।

'समर शेष है' लेखक का प्रथम प्रकाशित उपन्यास है। कथा की दृष्टि से इसे 'जहरबाद' का अगला खंड कहा जा सकता है। 'जहरबाद' की कहानी 'मैं' की माँ की मृत्यु के साथ समाप्त होती है, जबकि 'समर शेष है' का प्रारंभ मातृहीन 'मैं' के पिता के साथ वापस अपने पैतृक गाँव बलापुर लौटने के साथ होता है। बलापुर में 'मैं' के चचेरे भाई अपने परिवार के साथ रहा करते थे। पत्नी की मृत्यु के बाद 'मैं' के पिता दक्षिण (मध्य प्रदेश) का अपना कारोबार समाप्त कर 'मैं' के साथ अपने गाँव लौट आए थे। 'मैं' के वृद्ध पिता को अपने भतीजे से मदद की उम्मीद थी, परंतु भतीजे ने उन्हें नाउम्मीद ही किया। भतीजा नज़ीर मदद करना चाहता भी तो पत्नी के कठोर रूख के कारण यह उसके लिए संभव नहीं था। 'मैं' के सामने सबसे बड़ी समस्या थी अपनी पढ़ाई को जारी रखने की। चचेरे भाई से कोई आशा नहीं थी, क्योंकि भाभी ने पहले ही भाई को चेतावनी दे दी थी– "मैं कहे देती हूँ, पढ़ाई–लिखाई का झंझट पाला तो ठीक नहीं होगा।"[21]

भतीजे की ओर से निराश 'मैं' के अब्बा ने अपने दामाद अर्थात 'मैं' की सौतेली बहन के पति को पत्र लिखकर 'मैं' की पढ़ाई की कोई व्यवस्था करने का अनुरोध किया। 'मैं' अपने बहनोई मुहम्मद के साथ लालगंज आ गया, परंतु ज्यादा दिन रह नहीं सका। कुछ ही दिनों बाद 'मैं' की सौतेली माँ, जिन्हें 'मैं' के अब्बा ने त्याग दिया था, अपनी बेटी के यहाँ रहने के लिए आ गयी। उनके आने के बाद से 'मैं' के साथ दुर्व्यवहारों का सिलसिला–सा प्रारंभ हो गया, जिसने उसे लालगंज छोड़ने पर मजबूर कर दिया।

'मैं' का अगला ठिकाना था भोपतपुर स्थित उसकी बुआ का घर परंतु 'मैं' के फूफा का कहना था कि इस महंगाई के जमाने में वे दो लोगों को नहीं खिला सकते। अतः 'मैं' या उसके अब्बा में से कोई एक शख्स ही वहाँ रह सकता है। यह शर्त न 'मैं' को मंजूर थी और न ही उसके वृद्ध एवं लाचार पिता को। दोनों वापस बलापुर लौटे, परंतु भाभी के विरोध के कारण उन्हें 'मैं' की सौतेली बहन के यहाँ लालगंज ही आना पड़ा। इस बार उनके साथ और भी बुरा व्यवहार किया गया, परंतु 'मैं' की पढ़ाई

के लिए पिता–पुत्र कुछ भी सहने के लिए तैयार थे– "रातभर हम एक–दूसरे से लिपटे यह तय करते रहे थे कि हमें क्या करना चाहिए। यहाँ से जाते हैं तो पढ़ाई नष्ट होती है और रहते हैं तो स्वाभिमान की हत्या होती है। शिक्षा जरूरी है या स्वाभिमान? यह प्रश्न बार–बार हमारे दिमागों से टकराने लगा। और अंततः अब्बा ने यह फैसला लिया कि शिक्षा जरूरी है। और हम निहायत बेहया बनकर वहाँ रहने लगे।"[22]

पिता–पुत्र को घर की बजाय पड़ोस के एक खंडहर में रहने का आदेश मिला। 'मैं' को जंगल से लकड़ियाँ लाने, पानी भरने के अतिरिक्त घर के अन्य काम भी करने पड़ते थे। इसके बावजूद वहाँ उनका रहना नहीं हो सका और और वे वापस बलापुर आ गए। जहाँ खाने और रहने ही कोई व्यवस्था नहीं हो पा रही हो वहाँ पढ़ाई के बारे में तो सोचना ही बेमानी था– "मैं जानता था कि मुझे पढ़ाया नहीं जाएगा, मुझसे मजूरी ही कराई जाएगी। और इस स्थिति को चुपचाप स्वीकार कर लेने के अलावा मेरे सामने दूसरा कोई विकल्प नहीं था।"[23] कुछ दिनों बाद उन्हें फिर बलापुर छोड़ना पड़ा और उभारी आना पड़ा, जहाँ 'मैं' के भैया ने एक और मकान खरीद रखा था। पिता–पुत्र के खाने की व्यवस्था अलग–अलग घरों में थी, जिसके बदले में 'मैं' को दोनों घरों का काम करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त एक घर में उसे बीड़ी बनानी होती थी तो दूसरे घर में भेड़ के चमड़ों पर नमक घिसना पड़ता था। 'मैं' के अब्बा अब और ज्यादा कमजोर तथा लाचार हो गए थे। उनकी निरीहता और लाचारी 'जहरबाद' में निर्मित 'अब्बा' की छवि से काफी अलग दिखाई देती है। जीवन के आखिरी दिन अपनी देहरी पर काटने के उनके अनुरोध को स्वीकार कर नजीर भैया पिता–पुत्र को पुनः बलापुर ले आए। बलापुर आने के कुछ ही दिनों बाद 'मैं' के अब्बा उसे अकेला छोड़ गए।।

[पिता तो मौत की गोद में जाकर तमाम उलझनों से रिहाई प गए परंतु किशोर 'मैं' की भटकन का अंत अभी नहीं दिख रहा था। 'मैं' पुनः अपनी सौतेली बहन के यहाँ लालगंज आ गया, जहाँ उसे इस शर्त पर पढ़ाई शुरू करने की अनुमति मिली कि, फीस और कापी–किताब की व्यवस्था उसे स्वयं करनी पड़ेगी] पढ़ाई से समय निकाल कर 'मैं' को जंगल से लकड़ियाँ लाने जैसे घर के जरूरी काम भी करने पड़ते थे। 'मुहम्मद भैया' ने साइकिल की दुकान खोली तो वहाँ हवा भरने से लेकर पंचर बनाने तक का काम करना पड़ा। भैया ने जब पेंट का काम शुरू किया तो 'मैं' को मील के पत्थरों को रँगने के लिए जाना पड़ा।[इन सब के कारण पढ़ाई का हर्ज होता हो तो हो, क्योंकि कोई भी आदेश टालने का अर्थ था, फिर से बेठिकाना हो जाना– "खाने का ठिकाना नहीं था और हमने तुम्हें सहारा दिया, लिखाने–पढ़ाने का इंतजाम

किया और तुम एक काम नहीं कर सकते हमारा। ऐसा ही है तो अपना कोई दूसरा इंतजाम कर लो। यहाँ रहने की कोई जरूरत नहीं है।"[24] सुबह–शाम खाने के साथ झिड़कियों की खुराक आम थी। पेचिश से ग्रस्त 'मैं' को इसबगोल की भूसी खरीदने के लिए दस पैसे तो नहीं ही मिले, ताने अलग सुनने पड़े– "काम न करने का बहाना है, और कुछ नहीं। घर में कितने दिन से लकड़ी नहीं है, पर आंख सब की फूटी हुई है।"[25] इस प्रकार झिड़कियाँ सुनते और ताने सहते 'मैं' ने बोर्ड की परीक्षा दे डाली, परंतु अब आगे पढ़ने की कोई व्यवस्था नहीं थी, क्योंकि अब सौतेली बहन की ओर से सीधा जवाब दे दिया गया– "जितना हमसे हो सका पढ़ा–लिखा दिया, अब कोई नौकरी ढूँढो।.... हमारे घर में इतना भरा नहीं है कि किसी को हम बैठाकर खिला सकें। दस तक पढ़ा दिया, यह कम नहीं है। अब तुम्हारे हाथ–पाँव हो गए हैं, जाकर कहीं कुछ देखो–करो... हम अब तुम्हारा बोझ नहीं उठा सकते।"[26] और दसवीं की परीक्षा दे चुके किशोर 'मैं' ने नौकरी ढूँढ ली – एक होटल में जूठी प्लेटें धोने की...। कुछ दिनों बाद यह नौकरी भी छूट गयी, क्योंकि होटल का मालिक 'अच्छे घर' के लड़के को नौकर रखने को तैयार नहीं था। इसी बीच लालगंज के विद्यालय के प्रिंसिपल की कृपा से न सिर्फ उसके आगे पढ़ने की व्यवस्था हो गयी बल्कि रहने का ठिकाना भी प्राप्त हो गया। प्रिंसिपल साहब ने ही उसके लिए राशन की व्यवस्था भी कर दी। हालाँकि उसके खाने की जो व्यवस्था की गई थी, वह किसी भी स्वाभिमानी व्यक्ति को पसंद नहीं आ सकती थी, परंतु यहाँ प्रश्न स्वाभिमान की रक्षा का नहीं बल्कि जीने का था– "ज़िंदगी, जो आदमी के स्वत्व की हत्या कर दे, मौत से भी बदतर होती है। लेकिन आत्महत्या उससे भी बदतरीन है। ज़िंदगी फिर भी एक खूबसूरत चीज है– अपनी तमाम बदतमीजियों के बावजूद। वह भले ही कोई बड़ा सवाल हो, पर मौत उसका जवाब नहीं है।

इसलिए मैं जी रहा था। जी रहा था और झेल रहा था। अपनी तमाम यतीमी और शर्मनाक स्थितियों के बावजूद। खुद को तोड़कर नंगा करके– मैं जी रहा था।"[27]

प्रिंसिपल साहब ने हॉस्टल के सवर्ण छात्रों को आदेश दिया था कि वे प्रतिदिन 'मैं' को बारी–बारी से सीधा दिया करें। छात्रों द्वारा दी गयी इस भिक्षा से ही 'मैं' के भोजन की व्यवस्था होती थी। हालाँकि प्रिंसिपल साहब ने उसे निर्धन छात्रों को मिलने वाला सरकारी ऋण दिलाने की कोशिश की थी, परंतु 'फार्म' पर दस्तख्त करने के लिए कोई 'गार्जियन' तैयार नहीं था। कैसी विडम्बना थी– उसे नौकरी नहीं मिल सकती थी, क्योंकि वह 'अच्छे घर का था और उसे सरकारी ऋण नहीं मिल सकता था, क्योंकि उस 'अच्छे घर' का कोई व्यक्ति उसकी जिम्मेदारी लेने को तैयार नहीं

था। 'मैं' का जीवन–यापन 'भिक्षा वृति' के सहारे ही हो रहा था, कि अचानक इस भिक्षा पर भी आफत आ गयी। इलाके में अकाल पड़ जाने के कारण छात्रों को 'दान देना' कष्टप्रद महसूस होने लगा और 'मैं' के सामने पुनः पेट की समस्या आ खड़ी हुई। उसने अपनी समस्या प्रिंसिपल साहब को बताई तो उन्होंने इस बार उसके लिए फर्जी नामों वाला एक राशन कार्ड बनवा दिया, जिसके जरिए मिलने वाले मक्के एवं ज्वार के सहारे 'मैं' के जीवन की गाड़ी खिंचने लगी। इसी बीच सरकार ने शारीरिक दृष्टि से अक्षम और काम न करने लायक यतीम बच्चों को मुफ्त राशन देने की घोषणा की। प्रिंसिपल साहब ने 'मैं' का नाम भी उस सूची में डलवा दिया, जिससे 'मैं' को प्रतिमाह आठ किलो गेंहूँ मुफ्त मिलने लगा। "लेकिन गेहूँ मुझे ज्वार से भी ज्यादा निस्वाद प्रतीत हुआ। ज्वार को तो फिर भी मैं पैसों से खरीदता था, पर गेहूँ जो मिलता था वह बिल्कुल मुफ्त का और सरकारी था। वह सरकार की कृपा के रूप में मुझे प्राप्त था और मैं सरकार की दया खा रहा था। मुझे लगता कि एक व्यक्ति की दया से सरकार की दया ज्यादा घृणित है... इसके अलावा मुझे यह भी लगता कि विकलांग और अक्षम यतीम बच्चों का हक खा रहा हूँ।"[28]

लेखक ने सरकार की अकाल–राहत–योजनाओं और उनके क्रियान्वयन के विस्तृत विवरण के माध्यम से सरकारी तंत्र के भ्रष्टाचार का भली–भाँति पर्दाफाश किया है। वस्तुतः इलाके को अकाल पीड़ित क्षेत्र घोषित करवाने के पीछे जो लोग थे, वे जनता के दुखों–तकलीफों से द्रवित होकर ऐसा नहीं कर रहे थे, बल्कि उनका मकसद इसी बहाने अपना उल्लू सीधा करना था। विद्यालयों में बँटने वाले दूध के डिब्बे एवं दलिया के थैले बच्चों को मिलने के बजाय अध्यापकों के घरों में पहुँचने लगे। अकाल–राहत के तहत तालाब खुदवाने की सरकारी योजना का भी यही अंजाम हुआ। मजदूरों के फर्जी नाम 'मस्टर रोल' में चढ़ाकर मजदूरी के पैसे हड़प लिए गए। तात्पर्य यह कि "इस संपूर्ण व्यवस्था पर समाज के कुछ सम्मान्य लोगों का वर्चस्व हो गया और सुविधा की किरणें एक खास पक्ष को ही प्रकाशित करने में जी जान से जुट गईं। कस्बे के सभापति तथा उन जैसे कुछ अन्य लोगों ने इस वर्चस्व में जमकर हिस्सा लिया।"[29] इस प्रकार जो सुविधाएँ अकाल–पीड़ितों को मिलनी चाहिए थीं, वे समाज के चंद ऊपर के लोगों तक ही सीमित रह गयीं। जिन सरकारी अधिकारियों एवं कर्मचारियों पर इन योजनाओं के क्रियान्वयन की जिम्मेदारी थी, वे इस धांधली में बराबर के हिस्सेदार थे। उन्हें भूख से पीड़ित जनता की कोई परवाह नहीं थी। भला ये गरीब लोग उन्हें क्या लाभ पहुँचा सकते थे, जिनके लिए वे बड़े–बड़े लोगों को नाराज करते। यहाँ तो उनकी जेबें भी गर्म हो रही थीं और मनोरंजन के लिए आए

दिन सांस्कृतिक आयोजन भी हो रहे थे। "एक सम्मान्य महोदय ने अपना एक लौंडा पाल रखा था, जो जाति का कोल था और चेहरे से बिल्कुल छोकरी जैसा लगता था। वह डांसर था। जब भी लोगों का मूड होता, प्राथमिक विद्यालय के कमरे में नाच का प्रोग्राम रख दिया जाता। जबकि चारों ओर लोग भूख से बिलबिला रहे थे, कस्बे के विद्यालय में चंद शरीफ लोग मसनद लगाए बैठे रहते और उनके सामने साड़ी–ब्लाउज में सजा लौंडा नाचता रहता।"[30] इसी प्रकार के कार्यक्रमों द्वारा सरकारी पैसे का सदुपयोग हो रहा था, परंतु 'मैं' इस लूट–खसोट में भागीदार बनकर खुश नहीं था। गलत तरीके से प्राप्त सरकारी गेहूँ वह जहर की तरह खा रहा था कि तभी गांधीवादी बाबा चेतनदास की प्रेरणा ने उसे इस कश्मकश से मुक्त कर दिया और उसने मुफ्त का गेहूँखाने की अपेक्षा मजदूरी करना ज्यादा उचित समझा। इस प्रकार 'मैं' ने पाइप ढोए, मिट्टी खोदी, मुहर्रम के ताजिए बनाए और किसी तरह बारहवीं की परीक्षा उतीर्ण कर ली। बारहवीं के बाद वही पुराना प्रश्न फिर सामने आ खड़ा हुआ– आगे क्या? बी. ए. में दाखिले के लिए अस्सी रूपयों की ज़रूरत थी और हमारे नायक के पास अस्सी पैसे भी नहीं थे। उसने सोचा, इतने रिश्तेदार हैं– सभी अगर दस–दस रूपये भी दे दें तो उसका दाखिला हो जाए, "लेकिन मैंने गलत सोचा था। दस रूपये की बड़ी कीमत थी। रूपये के मुकाबले मेरी जिंदगी बहुत सस्ती थी।"[31] सारे रास्ते बंद थे, लेकिन 'मैं' हार मानने पर तैयार नहीं था। यह 'समर' उसे हर हाल में जीतना था। अंत में काम आई माँ की आखिरी निशानी उनका 'भोपाली गजरा'। चाँदी के उन कंगनों को बेच कर उसने कॉलेज में दाखिला ले लिया। इस बार रहने का इंतजाम हुआ, लालगंज के एक परिचित रहमतुल्ला की ससुराल में। एक छोटी सी कोठरी में रहमतुल्ला की पत्नी के नन्ना (नाना) के साथ 'मैं' को जगह मिली। 'नन्ना' एक औरत से प्रेम करते थे और 'मैं' उस प्रेम में बाधक नहीं बनना चाहता था। नतीजा– उसे यह जगह भी छोड़नी पड़ी। एक मस्जिद में झाड़ू देने, नमाज पढ़ने और कभी–कभी अजान देने के बदले में उसे रहने की जगह मिल गयी। कुछ 'ट्यूशंस' भी मिल गए, जिसके सहारे उसका काम चलने लगा। पर... जीवन भर प्यार को तरसने वाला 'मैं' का युवा–मन अपनी छात्रा से प्यार करने लगता है। उससे गलती यह होती है, कि प्यार करने से पहले उसने अपनी हैसियत नहीं देखी थी। अपने इस 'अपराध' का दंड उसे भोगना पड़ता है। उसका सामान मस्जिद से बाहर फेंक दिया जाता है, 'ट्यूशंस' छीन लिए जाते हैं और वह फिर दर–दर भटकने की स्थिति में आ जाता है।

घूम–फिर कर 'मैं' वापस बलापुर आता है, तो अपनी भाभी को विधवा वेश में पाता है। वैधव्य ने भाभी के जीवन को ही नहीं बल्कि उनके हृदय को भी परिवर्तन

कर दिया था। जो भाभी उसे एक शाम खाना देने पर भी तैयार नहीं थीं, वही न सिर्फ उसे आगे पढ़ाने पर तैयार हो गईं, बल्कि 'विश्व विद्यालय के छात्र की गरिमा' के अनुसार एक साइकिल और घड़ी भी दिला दी। ऐसा लगा, जैसे 'मैं' के संघर्षों का अंत आ गया और वह सारी चिंताओं से मुक्त होकर अपनी पढ़ाई जारी रख सकता है, परंतु "मुहल्ले के कुछ समझदार लोगों ने भाभी के लड़कों को समझा दिया था कि लक्षण ठीक नहीं हैं। कहीं ऐसा न हो कि यह तुम्हारी अम्माँ से निकाह कर ले और सारी जायदाद इसके नाम हो जाए। इसलिए इसे अभी से हटा देना बेहतर होगा।

और उनके लड़कों ने इस बात पर विश्वास कर लिया था।"[32] घड़ी और साइकिल छीन कर 'मैं' को घर से बाहर कर दिया गया। अब तक के संघर्षों से उसका मन नहीं थका था, परंतु लड़ने के लिए मन के साथ तन की भी जरूरत होती है और उसके तन ने साथ देने से इंकार कर दिया।

गंभीर रूप से बीमार 'मैं' को अस्पताल में भर्ती किया गया। उसके तन की शल्य क्रिया की गयी। ताकि वह इस 'समर' में मन का साथ दे सके। यह 'समर' अभी समाप्त नहीं हुआ था। यह 'समर' समाप्त हो भी नहीं सकता था, क्योंकि जब तक जीवन है तब तक यह समर शेष है...

उपन्यास एक यतीम किशोर के संकल्प एवं उसकी दृढ़ता की मार्मिक गाथा है। कदम–कदम की ठोकरें, अपमान के दंश– कुछ भी उसे अपने लक्ष्य से विमुख नहीं कर सके। तमाम बाधाओं से लड़ता हुआ वह अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर है।

लेखक के व्यक्तिगत अनुभवों ने उपन्यास को वह प्रमाणिकता प्रदान की है, जो आत्मकथात्मक उपन्यासों की मुख्य विशेषता होती है। 'मैं' के जीवन के छोटे–बड़े हर प्रसंग को लेखक ने पूरी आत्मीयता के साथ चित्रित किया है– खास कर नायक के प्रेम प्रसंगों को। बचपन में ही माँ एवं कुछ समय बाद पिता की मृत्यु के बाद दर–दर की ठोकरें खाता और लोगों की गालियाँ सुनता 'मैं' प्यार का भूखा है। इसलिए जहाँ कहीं भी थोड़ा–सा प्यार मिलता, वह स्वयं को रोक नहीं पाता। हालाँकि कोई भी संबंध उसे वह प्यार नहीं दे पाया, जिसकी उसे जरूरत थी, बल्कि हर संबंध ने उसे एक नई चोट ही दी। परंतु, ये संबंध निष्फल नहीं रहे, क्योंकि इन्होंने उसे नये अनुभवों से संपृक्त किया। उसे जीवन की सच्चाई समझाई। इसलिए इन संबंधों का उसके जीवन में, उसके व्यक्तित्त्व के निर्माण में 'महत्त्वपूर्ण स्थान है। जंगल में गोबर चुनते वक्त मिली गुलमैना के प्रति उसकी मुग्धता हो या शकूर साहब की लड़की गिद्धी के प्रति उसका आकर्षण – हरेक प्रसंग ने उसके अनुभवजगत को समृद्धि

प्रदान की। ये संबंध महज आकर्षण पर आधारित थे और इन्हें प्यार नहीं कहा जा सकता, इसलिए इनके समाप्त होने का नायक को ज्यादा दुख नहीं हुआ। कुछ दिनों की उदासी के बाद ज़िंदगी फिर अपने पुराने ढंग पर चलने लगी। परंतु, छाया और खातून दो लड़कियों के प्रेम ने उसके जीवन को उथल–पुथल कर दिया। जीवन के प्रति उसके नजरिए को ही बदल दिया।

'मैं' का पहला गंभीर प्यार छाया से होता है, जो उसके 'हॉस्टल' के समीप के मकान में रहती थी। छाया भी उससे प्यार करती थी, परंतु यह प्यार परवान नहीं चढ़ पाता। नायक अपनी कमतर हैसियत को इसका कारण मानता है, परंतु कारण इससे कहीं बड़ा था। उनके बीच धर्म की ऊँची दीवार खड़ी थी, जिसे लांघ पाना न उसके लिए संभव था, न छाया के लिए।

बी. ए. की पढ़ाई के दौरान नायक खातून को 'ट्यूशन' पढ़ाने लगा और खातून में छाया का अस्तित्व पुनः साकार हो उठा। यहाँ धर्म की दीवार भी नहीं थी और खातून भी उसे चाहती थी, परंतु दोनों का विवाह फिर भी मुमकिन नहीं था। इस बार सामने थीं जाति की जंजीरें। जाति की जंजीरें धर्म की दीवार से अधिक कठोर थीं, क्योंकि इंसान अपना धर्म बदल सकता है, परंतु जाति...

"मुसलमान जब इस देश में आए तो यहाँ के भोले–भाले लोगों को उन्होंने बरगलाया। जाति–प्रथा के कोढ़ से ग्रस्त लोगों को इस्लामी मसावात (समतावाद) की तकरीर पिलाई गई और समाज में बराबरी का दर्जा पाने के लिए वे मुसलमान हो गए। लेकिन मसावात कुरान और हदीस की किताबों से बाहर नहीं निकला।... हिंदू समाज में जो नाई था, वह मुस्लिम समाज में भी नाई रहा।.... ऊँच–नीच का भेद बना रहा। मसावात चला गया भाड़ में।

उस भाड़ में एक खातून का दिल जल रहा था।"[33] तो, नायक को खातून का प्यार भी नहीं मिल सका, उल्टे बदनाम होकर शहर भी छोड़ना पड़ा तथा दर–ब–दर होना पड़ा।

इन विफल प्रेम–प्रसंगों ने नायक को आदर्श की हवाई उड़ानों से यथार्थ के धरातल पर ला पटका। छाया का प्यार पाने के लिए उसने ज्योतिषियों का सहारा लिया था, जबकि खातून के लिए खुदा से बार–बार गुहार की थी, परंतु न ज्योतिषियों की गणना काम आई और न अल्ला मियाँ से की गयी गुहार। हाँ, ढेर सारे सवाल सामने आए; यथा– "क्या सारे–के–सारे ज्योतिषी ठग होते हैं?... क्या नमाज़ एक खूबसूरत फ्राड के अलावा कुछ नहीं है? क्या अल्ला मियाँ बिल्कुल अंधे और बहरे

हैं?"[34] इस प्रकार धीरे–धीरे नायक को यह समझ में आ रहा था कि जिन आस्थाओं पर वह भरोसा कर रहा था, वे जीवन–संघर्ष में उसके काम नहीं आने वाली थीं। इन घटनाओं ने 'मैं' को इतना हताश कर दिया कि वह 'प्रेम' को ही 'चुतियापा' कहने लगा। अपनी विफलता का दोष वह छाया और खातून की कायरता को देता है, परंतु यह नहीं समझ पाता कि जिन सामाजिक व्यवस्थाओं से वह पुरूष होकर नहीं टकरा पाया, उनसे वे लड़कियाँ कैसे टकरा सकती थीं? वह भी उस समाज में, जो स्त्रियों के प्रति पशुता की हद तक संवेदनहीन है।

लेखक ने अपने सभी उपन्यासों में नारियों की दुरवस्था को सामने रखा है। 'जहरबाद' में अपनी पत्नी की पिटाई करने वाले 'मर्द' स्वयं नायक 'मैं' के अब्बा थे, तो यहाँ रहमतुल्ला है। रहमतुल्ला की पत्नी दिन–रात मेहनत करके घर का खर्च भी जुटाती थी और गाहे–बगाहे उसकी मार भी खाती थी। और तो और, पत्नी की अनुपस्थिति में रहमतुल्ला को दूसरी औरतों के साथ सोने में भी कोई उज्र नहीं था। पत्नी के त्याग और समर्पण का पति की नज़र में यही मोल है।

इस प्रकार अपने पहले ही उपन्यास में लेखक ने सामाजिक समस्याओं के प्रति अपनी यथार्थवादी दृष्टि का परिचय दे दिया है, जो 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' में पूरी तरह पुष्ट होकर सामने आती है।

'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' लेखक का सर्वाधिक चर्चित एवं प्रशंसित उपन्यास है। 1987 ई. में सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित इस उपन्यास का कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। धारावाहिक के रूप में 'इनाडु टी.वी. से इसका प्रसारण भी प्रस्तावित रहा है।

उपन्यास बनारस के साड़ी बुनकरों की जिंदगी पर आधारित है। वर्षों तक इन बुनकरों के जीवन के रेशे–रेशे को देखने के बाद लेखक ने इनके पूरे संघर्ष को उपन्यास के पन्नों पर सजीव कर दिया है। वे बुनकर जिनकी साड़ियाँ विश्व भर में प्रसिद्ध हैं, अपनी तमाम मेहनत के बावजूद परिवार को दो जून ठीक–ठाक खाना भी नहीं खिला पा रहे हैं और उनकी मेहनत पर फल–फूल रहे हैं 'गिरस्ता' और 'कोठीवाल'।

'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' का नायक यही बुनकर समुदाय है, जिसके केन्द्र में है 'मतीन'। मतीन अपनी दुरवस्था को जस का तस स्वीकारने को तैयार नहीं है। ऐसा क्यों है कि, "करघा अपना, जाँगर अपनी, सिर्फ कतान हाजी साहब का, लेकिन हाजी साहब की कोठियाँ तन गयीं और मतीन उसी ईंट की कच्ची दीवारों वाले दरबे में

गुजर कर रहा है।... कितनी भी सफाई से बिनो, नब्बे रूपया से ज्यादा मजदूरी नहीं मिलने की। हफ्ते–भर में सिर्फ नब्बे रूपया। उसमें से भी कभी पाँच रूपया 'दाग' का तो कभी तीन रूपया 'मत्ती' का और कभी 'रफू' का तो कभी 'तीरी' का कट जाता है।"[35] मतीन बार–बार इस सवाल से जूझता है। पत्नी को टी.बी. है। खून की उल्टियाँ करती है। डाक्टर अंडे और फल खिलाने को कहता है पर जब खाने के लिए रोटी नहीं जुटती तो अंडे और फल कहाँ से आएँगे? क्या करे मतीन? कहाँ जाए मतीन? किसी तरह इतनी हैसियत हो जाए कि अपना रेशम–धागा खरीद कर बुन सके। तब कम से कम गिरस्तों के भरोसे तो नहीं रहना पड़ेगा। बात बात पर मजदूरी के पैसे तो नहीं कटेंगे। लतीफ अपनी कतान खरीद कर बिनता है और साड़ी अच्छे दामों में बेचता है । परंतु जोंकें यहाँ भी हैं "इस गोलघर में तो छोटे–मोटे कारीगरों की कोई गिनती ही नहीं है। सेठ–महाजन ध्यान ही नहीं देते। जहाँ लाट का लाट माल आ रहा हो, वहाँ एक–दो साड़ियों की क्या बिसात? और अगर मेहरबानी करके ले भी लें तो पैसा देंगे हफ्ता–भर बाद। तब तक तो कतानवाले गोश्त नोच डालेंगे। अतः नकद पैसे के लोभ में लतीफ जैसे टुटपुँजिये कारीगर कमरूद्दीन जैसे जोंकों के हाथ कम पैसे में ही अपना माल बेच देते हैं।"[36]

मतीन सुनता है कि सरकार ने बुनकरों को काफी सहूलियतें दे रखी हैं। उन्हें बैंक से 'लोन' मिलता है, जिससे वे अपना निजी धंधा शुरू कर सकते हैं। मतीन 'लोन' लेने के लिए बैंक पहुँचता है तो उसे पता चलता है कि 'लोन' लेने के लिए तीस आदमियों की 'सोसायटी' बनानी पड़ेगी और उन तीसों सदस्यों को एक सौ दो रूपये की फीस जमा करनी पड़ेगी। इसके बाद 'लोन' मिलेगा। सरकारी ऋण क्या इतनी आसानी से मिलता है?

मतीन तीस बुनकरों की तलाश शुरू कर देता है, जो एक सौ दो रूपए की फीस भर सकें। तीस बुनकरों का मिलना तो आसान था, परंतु एक सौ दो रूपये...। काम कठिन है, पर मतीन इतनी जल्दी हतोत्साहित होने को तैयार नहीं है– "हाजी अमीरूल्ला का गढ़ तोड़ना है। लोगों का गला काट–काट कर बच्चू ने बड़ा धन जोड़ा है। 'देखते हैं अब कौन बिनता है उनके यहाँ की साड़ी? सब अपना–अपना बिनेंगे और अपना–अपना बेचेंगे। अभी तक हमारी मेहनत की रोटियाँ इन मुठल्लों ने खाई है, अब हम खुद खाएँगे। बस सोसाइटी बनने–भर की देर है।"[37] मतीन के जोश ने अन्य बुनकरों को भी प्रभावित किया। सभी धीरे–धीरे पैसे जोड़ने में लग गए, ताकि 'सोसाइटी' की फीस जमा की जा सके, परंतु 'सोसाइटी' बन पाती, इससे पहले ही यह खबर अमीरूल्ला तक पहुँच गयी। खबर पहुँचाने वाला भी कोई नहीं, बलिक दूसरा

नहीं, बल्कि एक बुनकर ही था– "हनिफवा दो साल से छोटा–मोटा गिरस बन गया है। हाजी अमीरूल्ला की चापलूसी कर–करके कुछ ज्यादा ही पैसे इसने कमा लिए हैं और अब अपने घर में दो करघे निजी बिठा लिए हैं... हाजी अमीरूल्ला को मतीन की कारगुजारियों की खबर करके उसने मानो तीर मार लिया हो... ।"[38]

दूसरी ओर, हाजी साहब भी बैंक के चक्कर लगाने लगे। मतीन किसी तरह तीस लोगों के दस्तखत और पैसे लेकर जब बैंक पहुँचता है, तो उसे पता चलता है कि 'सोसाइटी' तो बन भी चुकी है। मतीन, लतीफ, अल्ताफ, रऊफ आदि सभी जुलाहों के दस्तखत बैंक में मौजूद उस कागज पर चमकते हुए मतीन को मुँह चिढ़ा रहे थे, जिसमें लिखा था कि उन लोगों ने हाजी अमीरूल्ला को अपना चेयरमैन चुना है। उस कागज के आधार पर बैंक से बुनकरों को मिलने वाला ऋण हाजी अमीरूल्ला ने प्राप्त कर लिया था। मतीन हार गया और इस हार ने उसे इस कदर तोड़ दिया कि उसने घर से बाहर निकलना तक बंद कर दिया– "लतीफ, अल्ताफ, बशीर, कल्लू, जमील आदि सभी लोग जानते हैं कि मतीन क्यों नहीं बाहर निकल रहा है। वे यह भी जानते हैं कि जो कुछ हुआ है उसमें मतीन का कोई दोष नहीं है। उन्हें यह भी मालूम है कि हाजी अमीरूल्ला की उस फ़र्जी सोसाइटी में उनके भी फ़र्जी हस्ताक्षर हैं। लेकिन वे कुछ नहीं कर सकते। उन्हें इसी बनारस में रहना है और यही काम करना है। वे इस तथ्य से भी भली भाँति परिचित हैं कि इस फ़र्जी सोसाइटी को पचास–साठ हजार की जो सरकारी धनराशि मिलेगी, वह सोसाइटी के चेयरमैन की हैसियत से हाजी अमीरूल्ला को ही मिलेगी और उस धनराशि पर उन्हीं का एकाधिकार होगा। उन जैसे किसी गरीब बुनकर को कानी कौड़ी भी नहीं मिलेगी। लेकिन हाजी अमीरूल्ला का वे कुछ नहीं बिगाड़ सकते। उनके हाथ बड़े लम्बे हैं।"[39]

जो बात मतीन के साथी बुनकर समझ रहे थे, मतीन नहीं समझ पाया और अपनी हार को पचा पाने में विफल होकर बनारस छोड़ गया। इधर हाजी अमीरूल्ला ने सरकार से मिले पैसों का 'सदुपयोग' करते हुए करघों के स्थान पर 'पावरलूम्स' बिठा लिए। जो कारीगर उन करघों पर काम करते थे, वे सड़क पर आ गए। इस प्रकार मछली के तेल से ही मछली भुनी गयी। कुछ कारीगरों ने कर्ज लेकर करघे गाड़ लिए, हालाँकि वे जानते थे कि अपनी जिंदगी में वे यह कर्ज नहीं उतार पाएँगे। कारीगरों ने करघे लगाकर अपनी साड़ियाँ बिननी शुरू कर दी थी, पर इससे क्या होता? उनकी एक या दो साड़ियों का खरीदार कौन है? अंत में उन्हें जाना पड़ता है उन्हीं जोंकों के पास, जो उनका खून चूसने का एक भी मौका जाया नहीं करते। हाजी अमीरूल्ला हों या सेठ गजाधर प्रसाद, निरीह कारीगरों का खून दोनों को रास

आता है। साड़ी में दसियों एब निकालने और उसकी कीमत को यथासंभव कम करने के बाद पैसे देंगे चेक से। उस चेक से जो एक महीने बाद ही भँज सकता है। अब एक महीने तक किसी लतीफ या किसी बशीर के यहाँ चूल्हा जलने का कोई जुगाड़ न हो तो हाजी अमीरूल्ला या सेठ गजाधर प्रसाद क्या कर सकते हैं?

मतीन बनारस छोड़कर मऊ चला आया, परंतु मऊ का हाल भी बनारस से कुछ अलग नहीं है। सरकार ने कोआपरेटिव से सूत देने की जो व्यवस्था की है, उसका लाभ चेयरमैन सुलतान अहमद, हाजी जमाल अहमद, मंजरूल हसन अंसारी जैसे चंद बड़े लोगों को ही मिल रहा है। गरीब बुनकरों को खुले बाजार से दुगने मूल्य पर सूत खरीदना पड़ रहा है। बुनकरों को शिकायत है कि सरकार की निगाह में वे बुनकर नहीं हैं। सरकार उन्हें ही 'बुनकर' मानती है, जो बड़े–बड़े मिल खोल कर बैठे हैं तथा गरीब बुनकरों का शोषण कर रहे हैं। गरीब बुनकर सरकार की निगाह में मजदूर मात्र हैं। यह गरीब बुनकर किसी तरह अपना करघा लगाकर कपड़ा बुनते भी हैं तो बिक्री के लिए दर–दर भटकना पड़ता है। सरकारी हथकरघा निगम इन गरीब बुनकरों का कपड़ा नहीं खरीदते, क्योंकि ये निगम वालों को रिश्वत देने की सामर्थ्य नहीं रखते। अर्थात् जैसे बनारस वैसे मऊ – गरीब बुनकर दोनों ही जगह पिस रहा है। फिर अपनी पत्नी तथा बच्चे को बनारस में छोड़कर मतीन का मऊ में रहने का क्या फायदा? मतीन वापस बनारस लौट आता है।

मतीन की वापसी के बाद संघर्ष एक बार फिर प्रारंभ होता है। संघर्ष, जिसमें एक ओर हैं शोषण के हर प्रकार के फंदों से युक्त हाजी अमीरूल्ला और सेठ गजाधर प्रसाद जैसे गिरस्ता और कोठीवाल, जबकि दूसरी ओर हैं निरीह और लाचार बुनकर। एक पक्ष के पास है सत्ता का वरदहस्त और दूसरे पक्ष के लोगों के पास है मात्र उनकी इच्छा शक्ति।

हाजी अमीरूल्ला और सेठ गजाधर प्रसाद के पास राजनीतिक शक्ति है। अमीरूल्ला का बेटा एम.एल.ए. है तो गजाधर प्रसाद का बेटा एम.पी.। दोनों गरीब बुनकरों के शोषण में एक दूसरे को पूरा सहयोग करते हैं। एक–दूसरे को अपने प्रभाव वाले 'वोट' दिलवाते हैं। यहाँ हिन्दू–मुसलमान का कोई भेद नहीं है। हाँ, यह भेद वे गरीब 'जनता' में अवश्य पैदा करते हैं, ताकि उन्हें दंगों के लिए उकसाया जा सके। वे ही दंगे करवाते हैं और वे ही दंगा–पीड़ितों के बीच राहत–सामग्री बाँटते हैं। जब दंगों का उद्देश्य पूरा हो जाता है तो उनके ही 'प्रयासों' से दंगे समाप्त भी होते हैं। पिट्ठू अखबारों में तस्वीरें छपती हैं और जयजयकार होती है। इस प्रकार एक अच्छा खासा 'वोट बैंक' तैयार हो जाता है। दंगों में कितने लोग मारे गए, कितनी औरतों के साथ

बलात्कार किया गया, कर्फ्यू के कारण कितने घरों में चूल्हा नहीं जला– इन बातों से इन्हें कोई मतलब नहीं होता, क्योंकि दंगों में इनके घर के लोग नहीं मारे जाते, जिन औरतों के साथ जिना किया जाता है, वे इनके घरों की नहीं होती, कर्फ्यू में इनके घरों के चूल्हे नहीं बूझते। इन दंगों को प्रायोजित करने के पीछे इनका एकमात्र उद्देश्य अपनी राजनीति चमकाना होता है, जो भली–भाँति पूरा होता है। इसके बाद चुनाव जीतने में जो कसर रह जाती है, उसे दूर करने के लिए भी उपाय किए जाते हैं। शरफुद्दीन (हाजी अमीरूल्ला के सुपुत्र) के एम.एल.ए. बनने के बाद "हर लोकल लीडर ने अपनी–अपनी स्पेशल कारगुजारी के बारे में उचक–उचककर एम.एल.ए. साहब को जानकारी दी थी, कि किसने कितने फ़र्जी वोट गिरवाए, किसने कितनों को झापड़ मारा और किसने कितने न पड़नेवाले वोट पड़वाए, किसने खुद कितने मतपत्रों पर मुहर मारकर जबर्दस्ती उन्हें मतपेटी में डाल दिया, किसने कहाँ की मतपेटी गायब करवा दी, आदि–आदि। एम.एल.ए. साहब गद्‌गद थे। जैसे सुग्रीव अपनी सेना का बल–विक्रम सुनकर प्रसन्न हुए, कुछ उसी तरह।"[40] ऐसी ही तिकड़मों से हाजी अमीरूल्ला ने न सिर्फ बेटे को एम.एल.ए. बनवा दिया, बल्कि स्वयं भी यू.पी. हैन्डलूम बोर्ड के अध्यक्ष बन बैठे। अब हो गया बुनकरों के शोषण के एक और तंत्र का निर्माण पूरा। विधायक बेटे की सहायता से 'बुनकर बहबूदी फण्ड' से उन्हें अच्छी–खासी आर्थिक सहायता भी प्राप्त हो गयी। यह फण्ड गरीब बुनकरों की आर्थिक सहायता के लिए बनाया गया था। हाजी अमीरूल्ला भी इस पैसे से बुनकरों की सहायता ही करना चाहते थे। उनकी योजना कुछ और करघे गड़वाने की थी, ताकि कुछ और कारीगर इन पर मजदूरों की तरह खट सकें। उनकी इच्छा बुनकरों के बच्चों के लिए एक इंग्लिश मीडियम कान्वेंट स्कूल खुलवाने की भी थी। कॉलेज और स्कूल उनके परिवार ने पहले भी खुलवाए हैं, जिनके माध्यम से उनके लड़के बिना पढ़े ही पास होते रहे हैं– "हबीबुल्ला के लड़के अभी पढ़ रहे हैं। एक लड़का अभी दस में और एक आठ में। पढ़ने में दोनों कमजोर हैं, पर इस साल दोनों को पास कराना है। आठवाले के लिए तो दिक्कत है नहीं, मास्टर सब घर ही के हैं। नौकरी दी है तो क्या इतना भी न करेंगे? दस वाले के लिए प्रिंसिपल से कहना है कि बोर्ड परीक्षा के सेण्टर पर ऐसे मास्टरों को भेजें जो हर विषय में भरपूर मदद कर सकें।"[41]

अमीरूल्ला और उनके भाइयों ने बुनकरों की भलाई के लिए यतीमखाने का निर्माण भी कराया था और उसके चंदे से हजारों के वारे–न्यारे किया। बुनकर अस्पताल का निर्माण भी इसी उद्‌देश्य से किया गया। अब हाजी अमीरूल्ला 'बहबूदी फण्ड' से प्राप्त पैसों से भी ऐसे ही कुछ 'परोपकार' के कार्य करना चाहते थे। "बहुत

दिनों से सोच रहे हैं कि दरिया पार पड़ाव या दुलहीपुर के इलाके में कुछ जमीन खरीदकर उसे गरीब बुनकरों के हाथों थोड़े मुनाफे के साथ बेच दें, सो वह भी अब हो जाएगा। आखिर यह सब क्या वे अपने लिए करेंगे? इससे उन्हीं लोगों का तो फायदा होगा जो बेघरबार, बे सरो–सामान हैं। कुरआन में अल्लाह तआला फरमाता है कि जो बे–यारो मददगार हैं, उनकी मदद करो। इस्लाम की यही बुनियाद है।"[42]

इस प्रकार सरकार ने जो सुविधाएँ बुनकरों के लिए घोषित की हैं, उनका नाम– मात्र अंश भी उन तक नहीं पहुँचता। उन पर कब्जा होता है उन सरमायादारों का जो बुनकरों का हक़ हड़प कर उसका उन्हीं के शोषण में इस्तेमाल करते हैं। ऐसा नहीं है कि सरकार को अपनी योजनाओं का हश्र नहीं पता, परंतु सरकार में भी यही पूँजीपति हैं। लोकसभा और राज्य सभा में बुनकरों की समस्याओं को उठाने का दावा करने वालों का मकसद भी इन्हीं के हितों की रक्षा करना होता है। वे जानते हैं कि सरकारी योजनाओं का फायदा अंततः इन्हीं तक पहुँचता है क्योंकि गरीब, अनपढ़ एवं सीधे–सादे बुनकरों को बरगलाना काफी आसान है। बुनकरों को बहलाया न जा सके तो उनके जाली दस्तखत तो बनाए ही जा सकते हैं और सरकारी अधिकारी तो अपनी मुट्ठी में हैं ही।

शोषकों का यह तंत्र ऐसे ही हथकंडों से अब तक गरीब–बुनकरों का शोषण करता रहा है, परंतु बुनकरों की नयी पीढ़ी अब इसे सहने को तैयार नहीं है। यह मतीन–जैसे लोगों की पीढ़ी नहीं है, जो हार कर पलायन कर जाए। यह पीढ़ी है इकबाल जैसे युवाओं की, जो अपने अधिकारों की लड़ाई को उसके अंजाम तक पहुँचाए बिना नहीं रूकना चाहते। ये युवा संघर्ष को धक्का पहुँचाने वाली अपनी बुनियादी कमजोरियों से परिचित हैं और जानते हैं कि इन्हें दूर किए बिना इनका संघर्ष सफल नहीं हो सकता। "निजाम ऐसे नहीं बदल जाएगा। उसके लिए अपने में सुधार करना जरूरी है। पहली बात तो ये कि हम एक हों। ज़ाती मकसद को छोड़कर अपने हक के लिए एकजुट होकर लड़ें। और दूसरी बात यह कि हम अपनी समाजी बुराईयों को खत्म करें। सोचिए, सारी दुनिया में जबकि लड़कियाँ पढ़–लिखकर क्या–से–क्या बन रही हैं, हमारे घरों की लड़कियाँ सिर्फ कुरान पढ़–पढ़ कर पर्दो में बैठी कतान फेर रही हैं। उन्हें टी.बी. हो जाती है और उनकी जिंदगी जहर हो जाती है। बात–बात में हमारे यहाँ तलाक हो जाता है...। लड़कों को भी ज्यादा न पढ़ाकर उन्हें जल्दी ही साड़ी की पेटियाँ थमा दी जाती हैं....।"[43]

बुनकरों के बच्चों के लिए अंसारी स्कूल हैं, परंतु अधिकांश बुनकर अपने बच्चों को मदरसों में पढ़ाना चाहते हैं। मदरसों में पढ़ाई शाम को होती है और लड़के दिन

में बिनकारी सीखने या साड़ी की पेटियाँ लेकर बाजार जाने के लिये खाली रहते हैं। बनारस में मदरसों की कमी नहीं, परंतु इन मदरसों की हालत द्रष्टव्य है– "मदनपुरा के एक मदरसे में दो कमेटियाँ हो गयी हैं और दोनों कमेटियों का दावा है कि मदरसे पर हमारा अधिकार है। नतीजा यह निकल रहा है कि मदरसा बन्द है। दोनों मैनेजर मुकदमा लड़ रहे हैं और उस्ताद लोग सड़क पर हैं। लड़कियों वाले सेक्शन की उस्तानियाँ अपने–अपने घरों में स्वेटर बुन रही हैं। सिर्फ एक उस्ताद हैं ग़फ़्फ़ार खाँ, जो मुकदमा लड़ रहे हैं। वे दोनों मैनेजरों की पैरवी एक साथ कर रहे हैं...।"[44]

कुछ बुनकर अपने बच्चों को अंसारी स्कूल तक भेजते भी हैं तो मात्र इसलिए कि वे थोड़ा–बहुत पढ़–लिखकर हिसाब–किताब समझने लायक हो जाएँ। ज्यादा पढ़ने से कोई लाभ नहीं है, क्योंकि आखिरकार उन्हें साड़ी ही बिननी है।

लड़कियों की स्थिति तो अत्यंत दयनीय है। जैसा कि इकबाल ने अपने भाषण में कहा, उनका जीवन पर्दे की कैद में ही कट जाता है। इसी में घुट–घुट कर उन्हें टी.बी. हो जाती है। मातीन की माँ को टी.बी. थी। उसकी पत्नी अलीमुन को भी टी.बी. हो जाती है। "अलीमुन को टी.बी. हो गयी है। मतीन को मालूम है। लेकिन वह कुछ नहीं कर सकता। घर का जो काम है, वह बीवी को करना ही होगा। फेराई–भराई, नरी–ढोटा, हाँडी–चूली सभी कुछ करना होगा। बिन किए काम चलेगा नहीं। और रहना भी होगा पर्दे में। खुली हवा में घूमने का सवाल नहीं। समाज के नियम सत्य हैं, उन्हें तोड़ना गुनाह है।"[45] मतीन अपने समाज के अन्य युवाओं की अपेक्षा प्रगतिशील विचारों का है, परंतु वह भी समाज के 'नियमों' के विरूद्ध नहीं जा पाता। टी.बी. की शिकार उसकी पत्नी घुट–घुट कर मर जाती है और वह कुछ नहीं कर पाता। मतीन अपनी पत्नी से सहानुभूति रखने के बावजूद कुछ नहीं कर पाता, तो उन लोगों का क्या कहना, जिनकी नजरों में औरत की कोई हैसियत ही नहीं है– "औरत जात की आख़िर हैसियत ही क्या है? जब चाहो चूतड़ पर लात मारकर निकाल दो! औरत का और इस्तेमाल ही क्या है? कतान फेरे, हाँडी–चूली करे, साथ में सोये, बच्चे जने और पाँव दबाए। इनमें से अगर किसी भी काम में हीला–हवाली करे तो क़ानून–इस्लाम का पालन करो और बोल दो कि मैं तुम्हें तलाक देता हूँ। तलाक! तलाक! तलाक।..."[46] लतीफ इस्लाम के इसी 'क़ानून' के आधार पर कमरून को तलाक दे देता है। अधेड़ और पांच बच्चों का बाप लतीफ अपनी बेटी से कुछ ही बड़ी लड़की से दुबारा शादी करता है, परंतु दूसरी पत्नी रेहाना भी पिट–पिटा कर अंततः माथे पर तलाक का दाग लिए अपने पिता के घर लौट आती है। इसी प्रकार 'नजबुनिया' भी पति से तलाक पाकर पिता के यहाँ आ जाती है। इन लड़कियों के पास इससे बचाव का कोई रास्ता

TH-10100
0,152,3,N49,3:9(Y) 152p2

नहीं है। ज्यादा–से–ज्यादा ये हक़–ए–मेहर का दावा कर सकती हैं, जो शरीयत के अनुसार साढ़े बत्तीस रूपये तय हैं। बिना पढ़ी–लिखी ये लड़कियाँ कर भी क्या सकती हैं? इस समाज में लड़कियों के पढ़ने–लिखने का रिवाज नहीं है। बहुत ज्यादा हुआ तो अलिफ लाम सीखने और कुरआन पढ़ने के लिए मौलबी साहब के पास भेज दिया जाता है और मौलबी साहब लड़कियों को कुछ यूँ पढ़ाते हैं– "मौलबी साहब एक दस–ग्यारह साल की लड़की के गालों को मसल रहे थे और हँस–हँस कर डाँट रहे थे कि अभी तक तुम्हें 'अलिफ, लाम, मीम' याद नहीं हुआ। लड़की मोलबी साहब की इस हरकत को निहायत शर्मिन्दगी के साथ झेल रही थी और पढ़ रही थी... ।"[47]

इकबाल जैसे नौजवान अपने समाज की इन स्थितियों को बदलना चाहते हैं। वे जानते हैं कि इन कमजोरियों को दूर किए बिना वे मजबूती के साथ शोषकों के सामने खड़े नहीं हो सकते। इकबाल के प्रयासों से कई बुनकर अपनी लड़कियों को पढ़ने के लिए भेजने लगे हैं और दूसरी ओर, इकबाल अपने युवा साथियों की मदद से लोगों को शोषकों के खिलाफ गोलबंद कर रहा है और उन्हें संघर्ष के लिए प्रशिक्षित कर रहा है।

यद्यपि संघर्ष की समाप्ति के पूर्व ही उपन्यास समाप्त हो जाता है, लेकिन इस आशा के साथ कि इस संघर्ष का अंत शोषितों–पीड़ितों के पक्ष में होगा। अपने अधिकारों से परिचित यह नयी पीढ़ी उन्हें प्राप्त कर ही दम लेगी–

"सन्तो आयी ग्यान की आँधी रे

भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहै न बाँधी रे..."[48]

'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' यद्यपि पूरी तरह से बुनकरों के जीवन और उनकी समस्याओं पर केंद्रित उपन्यास है, तथापि लेखक की सजग दृष्टि के कारण जीवन के कई अन्य पक्ष भी स्वाभाविक रूप से सामने आते हैं। बनारस शहर तथा आसपास के विभिन्न उत्सवों, पीरों–शहीदों के मजारों पर लगने वाले मेलों, शादी–ब्याह आदि का विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन लेखक की सजग दृष्टि का परिचायक है। खास कर, लेखक ने भारतीय मुसलमानों के एक वर्ग की पाकिस्तानपरस्ती को भली भाँति उजागर किया है। ये लोग पाकिस्तान को एफ–16 विमान मिलने पर खुशी का इजहार करते हैं, क्रिकेट कमेंट्री में सिर्फ पाकिस्तान की जीत के बारे में सुनना चाहते हैं।

पाकिस्तान की जीत की खुशी में पान की दुकान पर मुफ्त में पान बाँटे जाते हैं। उनके बच्चे हिन्दुस्तान को हराने के लिए कमर कसकर मैदान में उतरते हैं– "जब

से पाकिस्तान ने भारत को हराया है तब से यहाँ का हर लड़का इमरान खाँ बनने का ख्वाब देख रहा है।...

लड़के चीखते हैं और मैच जोर पकड़ लेता है। आज हिन्दुस्तान झँटहियोवाले को हरा के रहना है।"[49]

इस प्रकार के छोटे–छोटे प्रसंग काफी प्रभावी हैं। निर्विवाद रूप से यह न सिर्फ लेखक का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है, बल्कि हिंदी के श्रेष्ठ उपन्यासों की किसी भी सूची में स्थान पाने योग्य है।

लेखक के चौथे उपन्यास 'दंतकथा' को लघु उपन्यास कहना ज्यादा उचित है। कुछ आलोचक इसे उपन्यास की बजाय लंबी कहानी मानना पसँद करते हैं।

कथानायक है एक मुर्गा, जो हत्यारे मनुष्यों से बचने की कोशिश में एक नाब–दान में फँस जाता है और वहीं फँसे–फँसे अपनी बीती ज़िंदगी को याद करता है। सारी कहानी मुर्गे की जबानी ही कही गयी है। फ्लैप की पंक्तियों के अनुसार, "यह उपन्यास नाबदान में फँसे एक मुर्गे के बहाने पूरी धरती पर व्याप्त भय, असुरक्षा और आतंक तथा इनके बीच जीवन–संघर्ष करते प्राणी की स्थिति का बेजोड़ शब्दचित्र प्रस्तुत करता है।"[50] इस प्रकार यह कहानी जितनी एक मुर्गे की है, उतनी ही मनुष्य की भी। ग्रामीण मुर्गे के शहर आने की कथा के बहाने लेखक ने ग्राम्य एवं नगर–संस्कृति की तुलनात्मक पड़ताल भी की है।

मुर्गे का जन्म् गाँव में हुआ था, परंतु उसके मालिक का शहरी अतिथि उसे पसंद कर शहर ले आया, और एक दिन किसी और अतिथि के सम्मान में उसे काटने की तैयारी होने लगी। इस बात का पता मुर्गे को चल जाता है और वह भाग खड़ा होता है। जान बचाने की कोशिश में वह उसी घर के नाबदान में घुस गया। वह ऐसी स्थिति में था, जहाँ से न पीछे जा सकता था, न ही आगे बढ़ सकता था। नाबदान में फँसा मुर्गा अपनी स्थिति से मुक्ति पाने की कोशिश करने के साथ–साथ लगातार सोचता रहता है– अपनी स्थिति के बारे में, मनुष्य के शोषण के बारे में। इस क्रम में वह भूख–प्यास से भी जूझता है और नाबदान में बहकर आने वाले उन पदार्थों को भी अपना आहार बनाता है, जिन्हें वह सामान्य परिस्थितियों में खाना पसंद नहीं करता। इस जीवन–संघर्ष में पोई की रोमानी स्मृतियाँ उसे शक्ति देती हैं, जिससे वह अपनी त्रासद स्थिति को झेलने में समर्थ होता है। "मैं कांप रहा था, लेकिन जिस्म को गर्म करने का कोई उपाय उस गलियारे में नहीं था।

मुझे फिर अपनी पोई याद आई। जब मैं खेत में चरते हुए कभी बारिश में भीग जाता तो मुर्गीखाने में आकर अपनी पोई के परों से सटकर खड़ा हो जाता। उसके मुलायम डैनों में जितनी भी उष्णता थी, वह धीरे–धीरे मेरे डैनों में समाने लगती और मेरा बदन गर्म हो उठता।"[51] मुर्गे के लिए पोई की स्मृति भी यही काम कर रही थी। वह उन सुखद स्मृतियों के सहारे अपनी त्रासद स्थिति को सह्य बना रहा था और उस वक्त का इंतजार कर रहा था, जब वह इस कैद से मुक्त हो सके।

शहर में भी मुर्गे को एक 'अंग्रेजी मुर्गी' मिल गयी थी, परंतु वह गोलियाँ खाकर अंडे देने वाली शहरी मुर्गी थी, जिसके लिए नर–स्पर्श का कोई अर्थ नहीं था। मुर्गा इस शहरी मुर्गी की चर्चा के बहाने कृत्रिम नगरीय सभ्यता के समक्ष ग्राम्य संस्कृति की श्रेष्ठता सिद्ध करता है।

मुर्गा मनुष्य की दुष्प्रवृतियों की भी चर्चा करता है और पशु पक्षियों की तुलना में उसे हेय बताता है– "मनुष्यों ने हर तरफ यह उड़ा रखा है कि मानव जन्म पाना बड़े पुण्य का फल है। लेकिन मैं मानव–जन्म नहीं पाना चाहता।... मनुष्य होने का मतलब है अपनी ही जाति का हत्यारा होना। यह वस्तुतः कितना अच्छा है कि कोई मुर्गा किसी मुर्गे की हत्या नहीं करता।

आदमी मारता है। उसके पास छुरी होती है और वह जिबह करता है। वह खून बहाकर मजा लेता है... ।"[52]

मुर्गे की यह कथा एकायामी रूप में सिर्फ मुर्गे की ही कहानी नहीं है, बल्कि मुर्गे की कथा के बहाने लेखक इस शोषक समाज की विभिन्न पर्तों को भी उघाड़ता है। यहाँ मुर्गे तथा अन्य जन्तु शोषित वर्ग के प्रतिनिधि हैं, जबकि मनुष्य है उनका शोषक। "मनुष्यों का यह समाज, जो अपने को सभ्य, बुद्धिमान, विकासशील और न जाने क्या–क्या कहता है, मेरे देखने में आया कि असल में यह शुद्ध रूप से उपयोगिता वादी, लाभवादी और स्वार्थी है। यह अपने आगे संसार के सभी जीवों को तुच्छ समझता है और यह मानकर चलता है कि वे समस्त प्राणी इसकी सेवा और इसकी भूख शांत करने के लिए बने हुए हैं। इसलिए वह घोड़ों की सवारी करता है, गधों पर बोझ लादता है, बैलों को खेत में जोतता है और बकरियों, हिरनों, खरगोशों तथा मुर्गों–मुर्गियों को मारकर खा जाता है।"[53]

शोषक वर्गों में चाहे जितने विभेद हों, जितने मतान्तर हों; शोषण के मामले में वे एकमत हैं। इसके विपरीत, शोषित जाति और धर्म के नाम पर आपस में ही लड़कर शोषकों का काम आसान करते हैं। शोषक ऐसी लड़ाइयों को प्रोत्साहित करते हैं–

"उन लोगों ने हमेशा हमारे ही साथियों को काटा और उनका गोश्त खाया। लेकिन अफ़सोस तो इस बात का है कि दुनिया के सारे मनुष्य इस मामले में एकजुट हैं, जबकि हम परिंदे अभी तक वर्गों में बँटे हुए हैं। मगर, हम एक हो भी जाएँ तो इनका क्या बिगाड़ सकते हैं? इनके पास तो बड़े–बड़े नए–पुराने हथियार हैं, और हमारे पास? हमारे पास कुछ भी नहीं है, सिवा चोंच के।.... उनमें थोड़ी–बहुत जो धार होती है वह आपस की लड़ाइयों में ही खत्म हो जाती है। आख़िर इन मनुष्यों ने मुर्गों में भी तो लड़ाई करवा रखी है। मुर्गे लड़ाना इनके शौक और मनोरंजन में शामिल है। मगर मुझे लगता है कि इसमें एक बड़ी साजिश भी है, कि हम इनसे लड़ने की बात सोच भी न सकें।"[54]

इस प्रकार पिछले उपन्यास की तरह बिस्मिल्लाह का यह उपन्यास भी शोषक शक्तियों और उनके हथकंडों की स्पष्ट पहचान कराता है। मुर्गा अभी कैद से मुक्त नही हुआ है लेकिन वह प्रयत्नशील है। उसे अपना शोषण करने वाली शक्तियों और उनके दाँव–पेंचों की जानकारी है। इस जानकारी के बल पर वह अब तक उनके फंदों से बचता रहा है। उसे अपनी जाति की उन कमजोरियों का भी पता है, जो संघर्ष की राह में बाधक हैं। मुर्गा इस कैद से मुक्त होगा और अपने अनुभव एवं ज्ञान के बल पर अपने साथियों को भी मुक्ति के लिए प्रेरित करेगा– इसी आशा के साथ उपन्यास समाप्त होता है।

औपन्यासिक परिदृश्य

अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपरोक्त चारों उपन्यासों में उनकी प्रतिबद्ध दृष्टि स्पष्ट दिखाई पड़ती है। शोषित वर्ग के प्रति यह प्रतिबद्धता उनके उपन्यासों को एक वैचारिक आधार प्रदान करती है। बिस्मिल्लाह के यहाँ सांप्रदायिकता से ज्यादा महत्त्वपूर्ण समस्या आर्थिक शोषण की है। शोषक हिन्दू हैं या मुसलमान– इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता, क्योंकि शोषण के मामले में वे एकमत हैं। इस तरह अब्दुल बिस्मिल्लाह परंपरागत मुस्लिम–लेखन से अलग खड़े नजर आते हैं। स्वयं को मुस्लिम लेखक की बजाय भारतीय लेखक कहलवाने के उनके दावे को इसी अर्थ में देखा जा सकता है।

बिस्मिल्लाह अपने उपन्यासों में स्त्री को एक शोषित वर्ग के रूप में पेश करते हैं। उनके हर उपन्यास में नारी–शोषण के मार्मिक चित्र हैं। दंतकथा का मुर्गा, जिसे शोषित जाति का प्रतिनिधि समझा जा सकता है, कहता है– "...जो मुर्गी अंडे देना बंद कर देती थी, उसे वे लोग अपनी बाँझ स्त्रियों की भाँति ही उपेक्षा की दृष्टि से देखा

करते थे और घर–भर में उसका सम्मान गिर जाता था। चाहे उनकी अपनी औरत हो और चाहे – मुर्गी संतान के मामले में वे दोनों के साथ एक जैसा बर्ताव करते थे।"[55]

'जहरबाद' के कथा नायक 'मैं' की अम्माँ, 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' के कमरून एवं रेहाना– जैसे चरित्र इस पुरूष प्रधान समाज में नारी की नियति को भली–भाँति रेखांकित करते हैं।

बिस्मिल्लाह अपने उपन्यासों में झूठी धार्मिक आस्थाओं की निरर्थकता और धर्म के नाम पर चलने वाले खेल को स्पष्ट रूप से सामने रखते हैं। इस संदर्भ में वे हिन्दुत्व या इस्लाम का विभेद नहीं करते– "आगे–आगे दुर्गा की प्रतिमा और पीछे–पीछे शोर मचाती भीड़। एक ऐसा शोर जिसका अध्यात्म से कोई मतलब नहीं। ठीक इसी तरह का शोर उस वक्त भी होता है जब ताजिए का जूलूस निकलता है। धर्म दोनों अवसरों पर सड़कछाप हो जाता है। वह सरेआम सिर के बल खड़ा हो जाता है। लेकिन फिर भी लोग कहते हैं कि यह सत्य है और सिर्फ यही सत्य है। इस सत्य के लिए लोग कट मरते हैं।"[56] इस 'सत्य' पर कट–मरने वाली भीड़ की धार्मिक आस्थाओं का लाभ चंद राजनीतिबाज उठाते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं।

'समर शेष है' का नायक 'मैं' नमाज, दरगाहों की मन्नत आदि की सार्थकता को पूरी तरह नकारता है। बिस्मिल्लाह झूठी धार्मिक आस्थाओं पर तीखा व्यंग्य करते हैं– "अजान की आवाज कान में पड़ते ही अलीमुन चारपाई पर से उठकर बैठ गई है और ओढ़नी से उसने अपना सिर ढँक लिया है, उस अल्लाह के सम्मान में, जो रब्बुल आलमीन है। रहमान और रहीम है।"[57] निस्सन्देह अल्लाह रहमान (बहुत मेहरबान) और रहीम (रहम करने वाला) है, परंतु उसके रहम की बरसात हाजी अमीरूल्ला जैसे लोगों पर ही होती है, न कि अलीमुन और मतीन जैसे लोगों पर।

स्थितियों की विसंगति को उजागर करने के लिए बिस्मिल्लाह यदा–कदा व्यंग्य का सहारा लेते हैं। कबीर की धरती और उनके व्यवसाय से जुड़े उपन्यास 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' में तो इसका प्रयोग अत्यंत स्वाभाविक है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है– "यह मुशायरा 'हिन्दू–मुस्लिम एकता' के बैनर पर कराया जा रहा है। इसके आयोजकों में हाजी अमीरूल्ला के अलावा हाजी वलिउल्ला, शरफुद्दीन और कामताप्रसाद जी भी हैं। दंगे के बाद इन लोगों ने कई–कई दिन शांति मार्च भी निकलवाए थे, जिनमें 'हिन्दू–मुस्लिम' भाई–भाई के जोरदार नारे लगाए थे। अब इस मुशायरे के जरिए यह साबित किया जाएगा कि शहर में वाकई हिन्दू–मुस्लिम एकता कायम हो गयी है और कौमी यकजिहती के लिए अब कोई खतरा नहीं रह गया है।

इस नेक काम को खूबसूरती के साथ अंजाम देने के लिए इस बार बुनकरों की मजूरी में से चन्दे की रकम भी काटी गयी है।"[58] जिन लोगों ने दंगे करवाए, वही शांति मार्च भी करवा रहे हैं और हिन्दू–मुस्लिम भाई–भाई जैसे नारों के माध्यम से एकता कायम कर रहे हैं। और–तो–और अपने राजनीतिक लाभ के लिए कराए जाने वाले आयोजनों के पैसे भी गरीब बुनकों की मजदूरी में से काटे जा रहे हैं।

सीधी–सादी भाषण व्यंग्य को और धारदार बनाती है। यहाँ लेखक को व्यंग्य करने के लिए भाषिक चमत्कार की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह सिर्फ स्थितियों को इस प्रकार संयोजित करता है कि विसंगति उजागर हो जाती है।

बिस्मिल्लाह के उपन्यासों में किस्सागोई की उस परंपरा के दर्शन होते हैं, जो बीच में कहीं लुप्त–सी हो गयी थी। इस क्रम में लेखक अपने विस्तृत अनुभव का परिचय देता चलता है। 'जहरबाद' में आदिवासियों के नृत्य, उनके रीति–रिवाज, उनके उत्सवों आदि का विस्तृत विवरण; 'समर शेष है' में बीड़ी निर्माण और चमड़ा घिसने जैसे कार्यों की पूरी प्रक्रिया की जानकारी; 'दंतकथा' में मुर्गों के रहन–सहन, उनकी आदतों का वर्णन यह सब उसके विस्तृत अनुभव जगत का परिचय देते हैं।

'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' तो इस मायने में अद्वितीय है। जुलाहों के रहन–सहन और साड़ी बिनने की पूरी प्रक्रिया की चरणबद्ध जानकारी– जैसे किसी बुनकर ने करघा छोड़कर कलम थाम ली हो।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यासों में बिंब, प्रतीक, पूर्व दीप्ति जैसी तकनीकों का सफल प्रयोग हुआ है। उनके उपन्यासों की एक खास विशेषता नजर आती है– सपनों का सार्थक प्रयोग। 'समर शेष है', 'दंतकथा' और 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' में इसे देखा जा सकता है। ये प्रयोग उपन्यासों को एक मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करते हैं।

बिस्मिल्लाह के उपन्यासों की भाषा उनकी महत्वपूर्ण विशेषता है। पात्रों एवं स्थितियों के अनुरूप भाषा का प्रयोग कथा को विश्वसनीयता प्रदान करता है।

'जहरबाद' में आंचलिक शब्दों का प्रयोग यत्र–तत्र दिखाई देता है, जबकि 'समर शेष है' की भाषा सीधी–सादी हिन्दी है। 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' में गालियों के प्रयोग पर कई भौंहें तनी हैं– परंतु जो लोग बनारस की संस्कृति से परिचित हैं, वे जानते हैं कि यह भाषा यथार्थ के कितने निकट है।

जहाँ कथा संवादों के माध्यम से आगे बढ़ती है, वहाँ भाषा के तेवर अचानक बदल जाते हैं और साहित्यिक भाषा के स्थान पर जमीन से जुड़ी भाषा के दर्शन होते हैं।

'झीनी....' में कहीं–कहीं लेखक ने बिना पात्रों का नाम दिए बातचीत दिखाई है। ऐसा खासकर उन स्थितियों में किया गया है, जहाँ किसी घटना या प्रसंग से संबंधित अफवाहों का प्रसार दिखाना हो। अफवाहों के साथ वस्तुतः ऐसा ही होता है। यह पता नहीं चलता कि बात किसने कही है, परंतु बात चारों तरफ फैल जाती है।

इस प्रकार न सिर्फ कथ्य, बल्कि शिल्प एवं भाषा के स्तर पर भी बिस्मिल्लाह के उपन्यास अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन उपन्यासों के जरिए बिस्मिल्लाह ऐसे समाज को पाठकों के सामने लाते हैं, जो अब तक हिन्दी साहित्य के लिए अनजाना था।

संदर्भ

1 हंस, जनवरी 1999, पृ.111

2 साक्षात्कार, परिशिष्ट, पृ.5

3 हंस, जनवरी 1999, पृ.111

4 साक्षात्कार, परिशिष्ट, पृ.2

5 चन्द्रदेव यादव (सं.), समकालीन कथा साहित्य का एक रूक्न, पृ.104

6 अब्दुल बिस्मिल्लाह, जहरबाद, पृ.9

7 वही, पृ.8

8 जहरबाद, पृ.77

9 वही, पृ.29–31

10 वही, पृ.54

11 वही, पृ.72

12 वही, पृ.81

13 वही, पृ.86

14 वही, पृ.87

15 वही, पृ.97

16 वही, पृ.08

17 वही, पृ.85

18 वही, पृ.100

19 वही, पृ.96

20 वही, पृ.62

21 अब्दुल बिस्मिल्लाह, समर शेष है, पृ.9

22 वही, पृ.13

23 वही, पृ.16

24 वही, पृ.34

25 वही, पृ.31

26 वही, पृ.41–42

27 वही, पृ.65–66

28 वही, पृ.70

29 वही, पृ.68

30 वही, पृ.69

31 वही, पृ.109

[32] अब्दुल बिस्मिल्लाह, समर शेष है, पृ.146

[33] वही, पृ.124

[34] वही, पृ.138

[35] अब्दुल बिस्मिल्लाह, झीनी–झीनी बीनी चदरिया, पृ.11

[36] वही, पृ.16

[37] वही, पृ.21

[38] वही, पृ.26

[39] वही, पृ.104

[40] वही, पृ.176

[41] वही, पृ.24

[42] वही, पृ.188

[43] वही, पृ.184

[44] वही, पृ.34

[45] वही, पृ.10

[46] वही, पृ.49

[47] वही, पृ.147

[48] वही, पृ.208

[49] वही, पृ.32

[50] अब्दुल बिस्मिल्लाह, दंतकथाः फ्लैप, पृ.81

[51] वही, पृ.66

[52] वही, पृ.81

[53] वही, पृ.20

[54] वही, पृ.20

[55] वही, पृ.21

[56] अब्दुल बिस्मिल्लाह, झीनी–झीनी बीनी चदरिया, पृ.112

[57] वही, पृ.23

[58] वही, पृ.167

अध्याय दो

'मुखड़ा क्या देखे' :
बदलते भारत का बदलता मुखड़ा

वर्षों की दासता के बाद जब 15 अगस्त 1947 को भारत ने स्वाधीनता प्राप्त की तो उसके सामने अनेक समस्याएँ थीं। देश की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा अत्यंत निर्धनता की स्थिति में जिंदगी गुजार रहा था, जिसे भोजन, वस्त्र और आवास की आधारभूत सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं थीं। पूरे देश में जाति, धर्म और भाषा के झगड़े स्वतंत्रता से प्राप्त खुशियों पर प्रश्नचिह्न बन कर खड़े थे। इन परिस्थितियों में देश के कर्णधारों के समक्ष इसे विकास पथ पर डालने की गंभीर चुनौती थी। देश के सर्वांगीण विकास के लिए उन समस्याओं को दूर करना आवश्यक था, जो विकास मार्ग में अवरोधकों की भांति खड़ी थीं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नीति–नियंताओं ने अनेक उपायों का सहारा लिया। आर्थिक विकास, रोजगार–निर्माण, शिक्षा के प्रसार आदि के प्रयत्न जोर–शोर से प्रारंभ हुए। सांप्रदायिकता, जातिवाद आदि के खिलाफ़ संवैधानिक उपबंध किए गए। ऐसा लगा, जैसे सभी समस्याओं से मुक्त होकर देश शीघ्र ही विकास पथ पर सरपट दौड़ने लगेगा। परंतु, यह आशा अधिक दिनों तक बनी नहीं रह सकी और जल्दी ही लोगों का उन सपनों से मोहभंग होने लगा, जो उन्होंने स्वाधीनता प्राप्ति के उपरांत संजोये थे।

आज स्वतंत्रता के पचास से अधिक वर्षों के बाद भी देश उन समस्याओं से मुक्त नहीं हो सका है, बल्कि उनका स्वरूप उग्र से उग्रतर होता गया है। इस आधी सदी में देश अनेक परिवर्तनों का गवाह बना, सरकार की ओर से विकास के बड़े–बड़े दावे किए गए, लेकिन देश के आम–जन की जिंदगी में कोई खास बदलाव नहीं आया।

सरकारी आंकड़ों द्वारा हर क्षेत्र में प्रगति की जो तस्वीरें दिखाई जाती हैं, वास्तविकता इससे काफी अलग है। यह वास्तविकता दिखाई पड़ती है, देश के साहित्य खासकर उपन्यासों में। देश की स्थिति की यह तस्वीर किसी भी सरकारी आंकड़े, किसी भी इतिहास से ज्यादा विश्वसनीय है। वस्तुतः समाज एवं सामाजिक समस्याओं से अत्यधिक निकटता के कारण ही उपन्यास की तुलना इतिहास से की जाती है। मार्क्स के सहयोगी फ्रेडरिक एंगेल्स ने बाल्ज़ाक के उपन्यास 'मानवीय कामडी' की चर्चा करते हुए कहा था... "(इस उपन्यास में) बाल्ज़ाक ने फ्रांसीसी समाज का पूरा इतिहास समेटा है, जिससे मुझे आर्थिक तफ़सीलों तक के मामले में (उदाहरण के लिए, क्रांति के बाद चल तथा अचल संपत्ति की पुनर्व्यवस्था के बारे में, इस अवधि के

सारे के सारे विशेषज्ञों– इतिहासकारों, अर्थशास्त्रियों तथा सांख्यिकीविदों– की पुस्तकों से कहीं अधिक जानकारी मिली।"[1] कुछ ऐसी ही बात हिंदी में प्रेमचंद के बारे में भी कही जा सकती है। निस्संदेह प्रेमचंद के उपन्यास तत्कालीन समाज के सच्चे चित्र हैं।

चर्चित समकालीन उपन्यासकार अब्दुल बिस्मिल्लाह प्रेमचंद की परंपरा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। बिस्मिल्लाह के अनुसार, "इतिहास सिर्फ वही नहीं है, जिसमें चंद राजाओं की चंद बर्बर लड़ाइयाँ वर्णित हैं, बल्कि इतिहास वह भी है, जिसमें जनता की अनेकानेक इकाइयाँ अनेकानेक बर्बरताओं से जूझती हैं। राजाओं का इतिहास का जाता है। लेकिन आदमी का इतिहास चलता रहता है – टूटता हुआ, छटपटाता हुआ, हारता हुआ, जीतता हुआ...।"[2]

अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'मुखड़ा क्या देखे' जनता की ऐसी ही इकाइयों का इतिहास है, जिसमें इन इकाइयों के अनेकानेक संघर्ष, हार, जीत चित्रित हैं।

'मुखड़ा क्या देखे' की कथा के केन्द्र में है, इलाहाबाद के पास स्थित बलापुर नामक छोटा–सा गाँव, जिसे लेखक ने 'छोटा–मोटा हिन्दुस्तान' कहा है– "किसी एक गाँव में इतनी सारी जातियों को रहते देखकर ही किसी ने शायद कहा होगा कि हिन्दुस्तान तो यहाँ के गाँवों में बसता है। बलापुर भी एक छोटा–मोटा हिंदुस्तान ही था। और हिदुस्तान अब आज़ाद हो गया था।"[3]

'मुखड़ा क्या देखे' इसी आज़ाद हिन्दुस्तान की कथा है। 'मुखड़ा क्या देखे' की कथा 'स्वाधीनता के कुछ बाद से लेकर इमरजेंसी तक फैली हुई' है। लेखक ने इस दौर की हर महत्वपूर्ण घटना पर अपनी नजर दौड़ाई है, एक आम भारतीय की हर समस्या को सामने रखने की कोशिश की है। उपन्यास की कथ भले ही इमरजेंसी तक हो, पर इसमें अभिव्यक्त समस्याएँ आज भी जस–की–तस हैं।

'सब वैसा ही है!'/आशाएँ और मोह भंग

आज़ादी आम भारतीय के लिए बहुत–सी आशाएँ साथ लेकर आई थी। बलापुर भी इससे अछूता नहीं था– "आज़ादी के साथ ही वातावरण में एक नई चमक पैदा हो गयी थी। उस चमक की कुछ किरणें बलापुर में भी चमकी थीं। स्वराज्! युगों–युगों से प्रतीक्षित स्वराज अब प्राप्त हो गया था। देश में अब उन्नति ही उन्नति होगी।"[4] उन्नति की इन आशाओं ने लोगों की नज़रों में आज़ादी का मोल बढ़ा दिया था।

गांधी और नेहरू स्वतंत्रता के अग्रदूतों के रूप में बच्चे–बच्चे की जुबान पर आ गये थे। उन्हें देवताओं की तरह पूजा जा रहा था। गंवई गीतों में भी उनका जिक्र आने लगा था–

"एक दिना सखियन संग सैंया
चली गयी गुलजार में
नेहरूजी को गुलाब में देखा
गाँधी जी को अनार में"[5]

मगर कुछ ही दिनों में आज़ादी का खुमार उतरने लगा। लोगों को यह साफ महसूस होने लगा कि आज़ादी के नाम पर वे छले गये हैं। सत्ता 'जॉन' की जगह 'गोबिन्द' के हाथ में अवश्य आ गयी, परंतु, उनकी हालत वैसी ही थी। उनकी गर्दन अब भी चंद 'बड़मनई' के तलवों के नीचे दबी हुई थी, जिसे सहलाना उनकी मजबूरी थी। आज़ादी के बाद अपनी सरकार बनेगी जो दबे–कुचलों और गरीबों की बात सुनेगी, उनके हित के लिए काम करेगी– यह भ्रम जल्दी ही दूर हो गया– "पहले के राजा और अब के राजा में बस इतना ही फरक है कि वो राजा कहाते थे, ये परधानमंत्री कहाते हैं... वे हाथी–घोड़े पर चढ़कर निकलते थे, ये मोटरकार में बैठकर निकलते हैं। बाकी सब वैसा ही है।"[6]

दरअसल, लोगों ने आशाएँ कुछ ज्यादा ही पाल ली थीं, अन्यथा स्वतंत्रता से पूर्व ही कांग्रेस के चरित्र ने यह स्पष्ट कर दिया था कि उसका शासन किन लोगों के पक्ष में होगा। निराला और प्रेमचंद जैसे युगद्रष्टा रचनाकारों ने पहले ही इसकी आशंका व्यक्त की थी। निराला जी यह मानने लगे थे कि आज़ादी की यह लड़ाई महज़ सत्ता–हस्तांतरण के लिए है, व्यवस्था परिवर्तन के लिए नहीं। इस संघर्ष की सफलता से जो आज़ादी मिलेगी वह महज़ यहाँ के चंद सम्पन्न लोगों की आज़ादी होगी, न कि बहुसंख्यक गरीब और भूखी–नंगी जनता की–

"आया मज़ा कि लाखों आंखों से दम घुटा है,
पटली है बैठने को गोरे की सांवले से"[7]

आज़ादी ने इन साहित्यकारों की आशंका को सही सिद्ध किया। स्वाधीनता के बाद भी गाँवों पर रामवृक्ष पाण्डे जैसे लोगों का ही राज चलता रहा। सारा गाँव उनकी 'परजा' है, जिसे सेवा–टहल के लिए वक्त–बेवक्त पाण्डेजी के दरवाजे पर हाजिरी देनी पड़ती है– "वे [रामवृक्ष पाण्डे] राजा न सही, पर इस गाँव–जवार में उन्हीं का

शासन चलता है। ठीक है, कि अब आजादी मिल गई है, मगर इसका अर्थ यह तो नहीं हुआ कि शासन अब चुड़िहार–धुनिया और चमार–सियार चलाएँगे...।"[8] शासन चालना चुड़िहार–धुनिया और चमार–सियार का काम नहीं है। उनका काम है रामवृक्ष पाण्डे और मौलवी जब्बार अली जैसे गाँव के 'बड़े' लोगों की सेवा–टहल करना और वक्त–बेवक्त उनसे पिट कर अपने पाप कटवाना।

यूँ तो 'चुड़िहारों–धुनियों और चमारों' को पीटने के लिए पाण्डे जी को किसी कारण की आवश्यकता नहीं है, परंतु यदि कारण ही ढूँढने हों, तो कारणों की कमी नहीं है। रामवृक्ष पाण्डे की पुत्री की शादी में उनकी पूरी 'परजा' अपने कर्तव्य पालन में जुटी हुई थी। गाँव का कोंहार (कुम्हार) परई–पुरवा लेकर आया था। मुसहर पत्तलें ला रहे थे। गाँव का 'सिपाही नाऊ' बच्चों के बाल बना रहा था। सभी अपना–अपना काम कर रहे थे, परंतु पाण्डेजी को अल्ली चुड़िहार नहीं दिख रहा था। बस! हो गया पिटाई के लिए कारण तैयार।

वस्तुतः अली अहमद की पत्नी रनिया प्रसव पीड़ा से कराह रही थी, इसलिए पाण्डेजी की पुत्री को चूड़ी पहनाने के लिए उसने अपनी भाभी को भेज दिया था। परंतु, अल्ली चुड़िहार क्यों नहीं आया था... यह जानने में पाण्डे जी की कोई दिलचस्पी नहीं थी। कारण चाहे कुछ भी रहा हो, उनके लिए यह असह्य था कि उनकी एक 'परजा' उनकी बेटी के विवाह में शामिल नहीं हो– "इस शुभ अवसर पर हलवाई आया, कोंहार आया, चमार और पासी आए, सिपाही नाऊ भी आया, मगर अल्ली चुड़िहार क्यों नहीं आया? जरूर उस मुसल्ले का दिमाग खराब हो गया है। अब बन न गया पाकिस्तान, हिन्दुस्तान में जगह न मिली तो चले जाएँगे। वरना एक परजा की यह मजाल कि गाँव के प्रतिष्ठित ब्राह्मण की कन्या का शुभ विवाह हो और वह अनुपस्थित रहे।"[9] यह अल्ली चुड़िहार का बहुत बड़ा अपराध था, जिसकी सजा उसे भुगतनी ही थी। पंडित जी उसे तब तक मारते रहे, जब तक वे थक नहीं गये। अल्ली चुड़िहार यह समझ ही नहीं पाया कि यह कैसी आज़ादी है, जहाँ उसे बिना किसी अपराध के पीटा जा रहा है– "क्या आज़ादी का यही मतलब होता है? पहले तो ये कहा जाता था कि अंग्रेज सरकार बहुत ज़ालिम है, अपना राज आ जाने पर सारा जोर–जुलुम खत्म हो जाएगा। यही पंडित जी बताया करते थे सबको। तो क्या वह सब झूठ था?"[10]

पिटाई से अली अहमद को निराशा तो हुई, परंतु अभी तक उसका पूरी तरह मोहभंग नहीं हुआ था। अभी उसे उम्मीद थी कि उसके साथ न्याय होगा। इसी न्याय की तलाश में वह इलाहाबाद पहुंचता है, ताकि पंडित जवाहर लाल नेहरू से रामवृक्ष

पाण्डे की शिकायत कर सके। उसे पूरी उम्मीद थी कि नेहरू जी उसकी शिकायत पर ध्यान देंगे और रामवृक्ष पाण्डे को जेल भिजवा देंगे। देश आजाद हो गया है और जनता का राज है यहाँ पर। और फिर, जवाहरलाल जी तो उसी के जिले के हैं। जिले की जनता के लिए इतना तो करेंगे ही। अली अहमद इलाहाबाद में नेहरूजी से तो नहीं मिल पाता, परंतु एक पनवाड़ी उसे जनता के राज की हकीकत अवश्य समझा देता है– "...जनता तो मेरे भाई इस चौराहे पर अपनी गुमटी में बैठी पान बेच रही है, राजकाज दिल्ली में चल रहा है।"[11] 'राजकाज' से जनता की यह दूरी अली अहमद की समझ में आ जाती है और वह हताश–निराश वापस अपने गाँव लौट आता है।

अली अहमद जैसे युवकों को धीरे–धीरे आज़ादी और उससे जुड़े सपनों की वास्तविकता समझ में आने लगी थी। उन्हें पता चल गया था कि आजादी न तो उन्हें खाने को दे सकती है, न ही सामंती शोषण से छुटकारा दिला सकती है। लेखक ने अली अहमद के माध्यम से इस मोहभंग को स्पष्ट रूप से सामने रखा है।

'सारा गाँव पाण्डेजी की परजा है!'/सामंती शोषण

'मुखड़ा क्या देखे' में सामंती शोषण पूर्णतया नग्न होकर सामने आता है। पंडित रामवृक्ष पाण्डे और मौलवी जब्बार अली जैसे सामंत गाँव के बेताज बादशाह हैं। वे आज भी स्वयं को न सिर्फ गाँव का शासक समझते हैं, बल्कि उस सत्ता का भरपूर उपयोग भी करते हैं। गाँव की निरीह बेबस जनता उनकी बिन–पैसे की गुलाम है। इन राजाओं की हर पुकार पर 'परजा' को हाजिर रहना पड़ता है और आदेश पालन में जरा–सी भी कोताही होने पर अली अहमद की तरह पिटना भी पड़ता है। ज्यादातर लोग तो इस पिटाई को अपनी नियति मान कर चुप रह जाते हैं, जबकि मखदूम नाऊ जैसे कुछ अपने ही जैसे किसी शख़्स के आगे दिल का गुबार निकाल कर रह जाते हैं... "रिवाज अइसा है कि बड़मनइन के हियाँ सोउरी से लेके बियाह के बखत तक लड़िकन का बाल मुफत में ही बनाना पड़ता है बदले में एक डब्बल नहीं मिलता। कहते हैं, बियाह में नेग न लोगे क्या? अब तुम्हीं सोचो, यही नियाब है का? मगर सब रिवाज तो बड़मनइन का बनाया हुआ है कि नहीं।"[12]

प्राचीन भारत में 'जजमानी व्यवस्था' सुविधाजनक ढंग से वस्तुओं और सेवाओं के आपसी आदान–प्रदान के लिए अपनाई गयी थी, परंतु आगे चलकर इसका विकास शोषण के एक तंत्र के रूप में हुआ। जजमानी व्यवस्था के अंतर्गत निम्न जाति के भूमिहीन लोगों (यथा: नाई, धोबी, कुम्हार, चुड़िहार आदि) द्वारा उच्च जाति के भू–स्वामी परिवारों को सेवा प्रदान की जाती थी, जिसके बदले में उन्हें नकद या वस्तु

(अनाज, चारा, वस्त्र, दूध, दही आदि) के रूप में भुगतान किया जाता था। ये संबंध आपसी सहमति पर आधारित होते थे, परंतु आगे चलकर भू स्वामियों ने न सिर्फ इसके लिए निम्न जातियों को बाध्य किया, बल्कि उनका भुगतान देने में भी आनाकानी की। इस प्रकार ये 'सेवक जातियाँ' बंधुआ मजदूर बन गयीं, जिन्हें हर अवसर पर अपनी उपस्थिति तो दर्ज करानी थी, परंतु बदले में 'नेग' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं पाना था। इस शोषण का विरोध करना भी उनके लिए संभव नहीं था। अली अहमद पिटाई के बाद प्रतिकार का प्रयास करता है, परंतु विफल होता है और अंततः पलायन में पनाह ढूंढता है। अर्थात् गाँव में रहकर शोषण और अपमान से बचना संभव नहीं है।

गाँव में रहना है तो जमींदारों का आदेश मानना ही पड़ेगा। उनका काम करने से इंकार तो संभव नहीं है, उनके दिए भोजन से भी इंकार नहीं किया जा सकता– चाहे वह रात–भर इंतजार करा कर ही क्यों न दिया जाए– "....अंत में पत्तलें लगीं परजा के लिए। अब तक एकदम सबेरा हो चुका था। पूरब में हल्की–हल्की लालिमा झलकने लगी थी। पर रात–भर की भूखी–प्यासी परजा में इतना साहस नहीं था कि भोजन छोड़कर अपने घर चली जाए।"[13] 'परजा' का भोजन करने न आना भी 'मालिक' के मन में अनेक शंकाओं को जन्म दे सकता है– "न वह भोजन करने आया और न ही अपना कर्तव्य करने। आखिर क्यों? यह किसी असगुन का संकेत तो नहीं है? संसार के अनेक देशों में प्रजा अपने राजा के विरूद्ध संघर्ष कर रही है। किसान और मजदूर अपने मालिकों के प्रति विद्रोह कर रहे हैं। अरे, शुरूआत तो इसी तरह होती होगी न। पहले एक ऐसा करता होगा, फिर दूसरा, तीसरा और फिर एक गिराह बनाकर... ।"[14]

अली अहमद की पिटाई के पीछे रामवृक्ष पाण्डे की यही शंका थी। पाण्डेजी का इरादा 'विद्रोह' के प्रयास को आरंभ में ही दबाना था। जब पहले विद्रोही को ही पर्याप्त सबक मिल जाएगा, तो कोई अन्य ऐसा करने का साहस नहीं करेगा।

अली अहमद को लगता था कि पाण्डे जी के अत्याचार के विरूद्ध उसे 'जब्बार मोलवी' की सहानुभूति प्राप्त होगी, क्योंकि वह उनका मुसलमान भाई था। इस्लाम की मान्यता के अनुसार, मुस्लिमों में ऊँच–नीच या जाति के विभेद नहीं होते, परंतु यह मान्यता सिर्फ कुरान और हदीस के सिद्धांतों तक ही सीमित है। अब्दुल बिस्मिल्लाह इस सिद्धांत के वास्तविक व्यवहारिक रूप को सामने रखते हैं– "मुसलमान जब इस देश में आए तो यहाँ के भोले–भाले लोगों को उन्होंने बरगलाया। जाति–प्रथा के कोढ़ से ग्रस्त लोगों को इस्लामी मसावात (समतावाद) की तकरीर पिलाई गई और

समाज में बराबरी का दर्जा पाने के लिए वे मुसलमान हो गए। लेकिन मसावात कुरआन और हदीस की किताबों से बाहर नहीं निकला।"[15] व्यवहार में मौलवी जब्बार अली और अली अहमद एक स्तर पर नहीं हो सकते थे, क्योंकि "जब्बार मौलवी साहब तो मुसलमान होने के साथ–साथ और भी कुछ थे। वे दुअन्नी–भर के जमींदार थे और पं. रामवृक्ष पाण्डे के साथ उनका उठना–बैठना था। मतभेद जो थे भी, केवल राजनैतिक स्तर पर थे, जीवन की शेष चीजों पर वे लगभग एक ही तरह से सोचते थे।"[16] अर्थात् गाँव की निरीह–गरीब जनता के शोषण के मुद्दे पर दोनों में कोई मतभेद नहीं था। बिस्मिल्लाह की स्पष्ट मान्यता है कि निचले तबके के लोगों की सबसे बड़ी समस्या शोषण की है। संपन्न और समर्थ वर्ग के हिंदू और मुसलमान दोनों मिलकर अपनी हिंदू और मुसलमान 'परजा' का शोषण करते हैं। धार्मिक समानता शोषण में आड़े नहीं आती। चाहे 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' के हाजी अमीरूल्ला और गजाधर प्रसाद हों या 'मुखड़ा क्या देखे' के रामवृक्ष पाण्डे और जब्बार मौलवी – निचले तबके के हिंदू और मुसलमानों से उनके व्यवहार में कोई अंतर नहीं दिखता। धर्म शोषण में बाधा बनने के बजाय सहायक ही सिद्ध होता है। 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' के अमीरूल्ला 'हाजी' हैं, परंतु गरीबों का खून–चूसने का कोई मौका जाया नहीं करते। धर्म के नाम पर अनाथालय और अस्पताल बनवाने के बहाने वे चंदे के पैसों की भरपूर कमाई करते हैं। 'मुखड़ा क्या देखे' के रामवृक्ष पाण्डे भी ब्राह्मण होने के कारण प्राप्त सामाजिक श्रेष्ठता का शोषण में भरपूर उपयोग करते हैं।

वस्तुतः रामवृक्ष पाण्डे, गजाधर प्रसाद, जब्बार मौलवी और हाजी अमीरूल्ला– ये सभी शोषण के एक ही तंत्र के पुर्जे हैं। यही कारण है कि अली अहमद द्वारा पाण्डे जी की शिकायत किए जाने पर मौलवी साहब पाण्डे जी का ही पक्ष लेते हैं और 'धुनियों–चुड़िहारों' को सिर पर चढ़ाने के लिए पत्नी को डाँट भी पिलाते हैं।

'अली अहमद नेहरूजी से रामवृक्ष पाण्डे की शिकायत करने के लिए इलाहाबाद गया था'– इस खबर से मौलवी साहब चिंतित हो उठे– "आज यह पाण्डेजी के खिलाफ आवाज उठाने की तैयारी कर रहा है तो कल उनके खिलाफ भी आवाज उठा सकता है। अगर ऐसा ही होता रहा तब तो इस मुल्क में शरीफों का रहना ही मुश्किल हो जाएगा।"[17] इसी चिंता में मौलवी साहब अगली सुबह रामवृक्ष पाण्डे के यहाँ जा पहुँचे, ताकि दोनों 'शरीफ' मिल कर इस समस्या का हल ढूंढ सकें। यहाँ लेखक ने स्पष्ट दिखाया है कि, अली अहमद "वैसा मुसलमान नहीं है, जैसे कि जब्बार मौलवी साहब हैं। मुसलमान और मुसलमान में भी फर्क होता है। कुछ हिंदू और कुछ

मुसलमान एक जैसे होते हैं, उनके सोचने का ढंग एक जैसा होता है। वे कुछ दूसरे हिंदुओं और कुछ दूसरे मुसलमानों से अलग होते हैं... ।"[18]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात धीरे–धीरे विभिन्न राज्यों में जमींदारी उन्मूलन संबंधी कानून बनाए गए, लेकिन ये कानून जिस प्रकार लागू किए गए, इनमें अनेक खामियाँ रह गयीं। "जमींदारों को भूमि के बहुत बड़े भाग पर स्वयं खेती करने की अनुमति दे दी गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि खुल्लम–खुल्ला अथवा ढके–छुपे तरीके से या फिर 'स्वेच्छा से' जमीन छोड़ने के नाम पर खेती करने वाले छोटे–छोटे, गरीब काश्तकारों से जमीन खाली करा ली गयी।"[19] बलापुर के जब्बार मौलवी ने भी ऐसा ही किया और काश्तकारों को 'समझा–बुझाकर जमीनें वापस ले लीं। इस प्रकार जमींदारी उन्मूलन से शोषण तो खत्म नहीं हुआ, हाँ शोषण के तरीके अवश्य बदल गए।

जब्बार मौलवी के सुपुत्र सत्तार पोस्ट मास्टर हो गये थे और अपने घर के भूसा रखने के कमरे में ही उन्होंने पोस्ट ऑफिस भी खोल लिया था। सरकार से वे इस कमरे का किराया भी वसूल करते थे। गाँव के लोगों के 'मनीआर्डर' दस–पंद्रह दिनों तक रोक कर सत्तार साहब उन रूपयों का अपने घरेलू खर्चों के लिए धड़ल्ले से प्रयोग किया करते थे।

निस्संदेह जमींदारी–उन्मूलन ने इन सामंतों की स्थिति को बुरी तरह प्रभावित किया था। जब्बार मौलवी और रामवृक्ष पाण्डे–दोनों के लिए यह झटका अंततः प्राणघातक सिद्ध हुआ। 'पांड़े बबा' के यहाँ चमरौटी तथा पसियाने की स्त्रियाँ अभी भी घरेलू काम काज किया करती थीं, परंतु अब खेती के लिए बेगार मजदूर उतनी आसानी से उपलब्ध नहीं थे। मजदूर और हलवाहे अब अनाज के चंद दानों पर काम करने को तैयार नहीं थे। वे अपनी मेहनत का प्रतिदान नकद रूपयों में चाहते थे। सत्तार साहब ने इसका हल सरकारी धन के गबन के रूप में निकाला और 'मनीआर्डर' तथा बचत खातों के धन का प्रयोग अपनी खेती के कार्यों के लिए करने लगे। दूसरी ओर, पंडित रामवृक्ष पाण्डे के 'सुयोग्य' उत्तराधिकारी–उनके पौत्र अशोक पाण्डे ने धन प्राप्ति का एक नया ही तरीका ढूंढ निकाला। उन्होंने खाली पड़ी सरकारी जमीन ग्रामीणों को दुकान खोलने के लिए बेचनी शुरू कर दी। एक–एक गुमटी के बराबर की उस जमीन के लिए, जिसकी मालिक सरकार थी, ग्रामीणों ने अशोक पाण्डे को सौ–सौ रूपये दिए। बिना उन्हें पैसे चुकाए कोई भी व्यक्ति वहाँ अपनी दुकान नहीं खोल सकता था। जमींदारी भले ही खत्म हो गयी हो, अभी भी कोई गाँव वाला पाण्डे परिवार के सामने आसानी से मुंह नहीं खोल सकता था। पच्चीस वर्ष पहले रामवृक्ष

पाण्डे स्वयं को 'गाँव–जवार' का वास्तविक शासक समझते थे, आज उनका पौत्र उनके नक्श–ए–कदम पर चल रहा था। इस स्वयंभू–शासक के विरोध में खड़े होने की सजा मौत थी। लल्लू की हत्या इसका उदाहरण है। अशोक पाण्डे ने लल्लू का मकान स्कूल खोलने के बहाने हथिया लिया। अपने मकान पर कब्जे का विरोध करने वाले अर्द्ध विक्षिप्त लल्लू की गोली मारकर हत्या कर दी गयी।

इस प्रकार स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी स्थिति में अधिक परिवर्तन नहीं आया है। गाँवों के चंद लोगों द्वारा निरीह बेबस जनता का शोषण जारी है। गाँव वाले आज भी इस अत्याचार को सहने के लिए बाध्य हैं। 'जमींदारी उन्मूलन के बावजूद गाँवों पर उन्हीं पूर्व जमींदारों का प्रभुत्व है और वे गाँवों के अघोषित शासक बने बैठे हैं।

गाँव–वालों के इस शोषण में धर्म की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। रामवृक्ष पाण्डे का परिवार अपनी धार्मिक श्रेष्ठता के कारण भी गाँव में सम्मान्य है, जिसका भरपूर लाभ उन्हें गाँव वालों का शोषण करने में प्राप्त होता है। 'ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं और छोटी जातियों को न सिर्फ उनकी सेवा करनी चाहिए, बल्कि उनके लात–जूतों को भी प्रसाद स्वरूप ग्रहण करना चाहिए' – यह मान्यता सिर्फ ब्राह्मणों की नहीं है, बल्कि उनकी सेवा को अपना सौभाग्य समझने वाली नीची जातियों की भी है। प्रेमचंद की कहानी 'सद्गति' का दुखी चमार इसी मान्यता का शिकार होकर अपनी जान गंवा बैठता है। आज भी गाँवों में ऐसे लोगों की कमी नहीं है। ये लोग ब्राह्मणों द्वारा की जाने वाली पिटाइ को भी 'पाप नाशक' समझते हैं। अली अहमद की रामवृक्ष पाण्डे द्वारा पिटाई पर एक ग्रामीण स्त्री की प्रतिक्रिया द्रष्टव्य है– "पांड़े बबा त बाम्हन देउता अहैं, मारि दीन्ह त समुझि ल्यो पाप कटि गवा।"[20] धार्मिक हीनता की यह भावना इतनी गहरी है कि ग्रामवासी एक नादान ब्राह्मण बालक को भी श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर स्वयं को कृतार्थ करते हैं– "ग्यारह वर्षीय पाण्डे–कुमार जब गाँव में निकलते हैं तो लाला और अहीर, लुहार और सुनार, बनिया और भडभूँजा, चमार और पासी सभी जन इनके सम्मान में खड़े हो जाते हैं और दोनों हाथ जोड़कर सिर झुकाकर, बड़ी श्रद्धा के साथ अभिवादन करते हैं– "पाँय लागी महराज।"[21]

ये नीची जातियाँ पाण्डे परिवार के लिए खुशी–खुशी बेगार करती हैं, फिर भी इन्हें ब्राह्मणों के अत्याचार एवं शोषण का शिकार होना पड़ता है। इनकी संतानें ब्राह्मणों की वासना–पूर्ति का माध्यम बनती हैं। 'चमार–पासी' आदि जातियाँ ब्राह्मणों के लिए भले ही अछूत रही हों, उनसे यौन संबंध स्थापित करने या उनके साथ बलात्कार करने से इन ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर कोई आँच नहीं आती। रामवृक्ष पाण्डे

के अनुज सृष्टि नारायण पाण्डे फुल्ली दाई की बारह वर्षीया नातिन के साथ बलात्कार का प्रयास करते हैं– सारा गाँव इस बात को जानने के बावजूद 'पंडितजी' का कुछ नहीं बिगाड़ पाता। बिगाड़ना तो दूर किसी में इतना साहस नहीं है कि इस बात को अपनी जिह्वा पर ला सके। इस प्रकार, पाण्डेजी के लायक पौत्र अशोक पाण्डे भी अली अहमद की बेटी ताहिरा को 'पूरी तरह पा लेना' चाहते थे। ताहिरा मुसलमान है तो क्या हुआ? "शास्त्रों में भी लिखा है –निम्नवंश की कन्या को उसी तरह अपना लेना चाहिए जिस प्रकार कि घूर में पड़े स्वर्ण को लोग अपना लेते हैं।"[22] ताहिरा को 'पूरी तरह पा लेने' की कोशिश में अशोक पाण्डे उसे आते–जाते छेड़ते हैं और पुराने फिल्मी गानों से प्रभावित करने की नाकाम चेष्टा करते हैं। ताहिरा के पिता एवं भाई इन बातों को जानने के बावजूद खून का घूंट पीकर रह जाने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाते।

निम्न जातियों के यौन शोषण का कारण सिर्फ़ सामाजिक संरचना में उनका नीचे होना नहीं है, बल्कि भयावह गरीबी भी इसका एक कारण है। मुन्ना चमार अपनी गरीबी के कारण ही सृष्टिनारायण के यौन शोषण का शिकार होता है– "नाचने के एवज़ में कुछ खास नहीं मिलता था। अपना और बूढ़े माता–पिता का पेट पालने के लिए उसे मजूरी करनी पड़ती थी। इसलिए पं. सृष्टिनारायण ने जब कहा कि 'मुन्ना, तुम मेरे साथ रहो, मैं तुम्हारी जिंदगी बना दूंगा। तुम्हारे माता–पिता को भी किसी बात की कमी नहीं होगी।' तो वह सहर्ष तैयार हो गया। एक से एक कलाकार बड़े आदमियों की छत्रछाया पाने के लिए क्या–क्या नहीं करते? यहाँ तो छत्रछाया खुद बांहें फैलाए खड़ी थी। मुन्ना उन बांहों में समा गया।"[23]

'भूखे–नंगे हैं भारतवासी!'/ गरीबी

आजादी प्राप्त हुए पचास से अधिक वर्ष हो गए। इस बीच कई सरकारें आयीं और गयीं। इन सभी सरकारों ने गरीबी हटाने के बारे में बड़े–बड़े दावे किए परंतु तमाम दावों और कोशिशों के बावजूद आज गरीबी अपने विकरालतम रूप में उपस्थित है।

बिस्मिल्लाह के उपन्यासों में गरीबी और उससे होने वाली भुखमरी के हृदयविदारक चित्र मिलते हैं। स्वयं बिस्मिल्लाह का संबंध जिस परिवार से रहा है, वह आर्थिक दृष्टि से अत्यंत विपन्न अवस्था में था। उन्होंने भूख और अभावों की उस पीड़ा को खुद झेला था, जिसके यथार्थ चित्र उनके उपन्यासों में यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं।

'जहरबाद' का कथानायक 'मैं' भूख सहन न करने पर जंगली पेड़ों की जड़ें खाता है। अभी हाल में समाचार पत्रों में भूख से त्रस्त उड़ीसा के लोगों द्वारा आम की गुठलियाँ खाने की खबरों से स्पष्ट है कि स्थिति आज भी बदली नहीं है।

गरीबी की इस स्थिति में दो जून भोजन के लिए ये लोग कुछ भी करने को तैयार रहते हैं, जिसका फायदा संपन्न तबके के चंद लोग उठाते हैं। इस प्रकार वे बहुत आसानी से शोषण के शिकार हो जाते हैं।

'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' के बुनकरों को 'गिरस्तों' के मनमाने अत्याचार सहकर भी अपनी बुनी साड़ी उन्हें औने–पौने दामों में देनी पड़ती है, क्योंकि पैसे न मिलने पर उनके यहाँ चूल्हे नहीं जलेंगे। 'गिरस्ते' उनकी इस मजबूरी का भरपूर फायदा उठाते हैं।

'मुखड़ा क्या देखे' के अधिकांश पात्र बलापुर गाँव के उस तबके के ग्रामीण हैं, जो दिनभर मेहनत करने के बाद शाम का भोजन जुटा पाते हैं। यदा–कदा उन्हें ऋण का सहारा भी लेना पड़ता है। गाँव में रामवृक्ष पाण्डे या जब्बार मौलवी के घर से उन्हें ऋण तो प्राप्त हो जाता है, परंतु साथ में गालियाँ और कभी–कभी पिटाई की सौगात भी प्राप्त होती है। बेगारी करनी पड़ती है, सो अलग।

कर्ज मांगने पाण्डे जी के यहाँ गया अल्ली चुड़िहार पिट कर वापस लौटता है और अंततः अपमान न सह पाने के कारण गाँव छोड़ मध्य प्रदेश चला जाता है। मध्य प्रदेश में आदिवासियों के एक इलाके में किराने की दुकान खोल कर अली किसी तरह अपने परिवार का पेट पालता है। गरीबी की हालत यहाँ भी वैसी ही थी। "... सबसे बड़ी समस्या यह थी कि लोगों के पास पैसे नहीं होते थे, इसलिए सामान या तो अनाज के बदले दिया जाता था या फिर उधारी पर। मगर इस छोटे–से परिवार का काम दुखे–सुखे चल ही रहा था और अली अहमद को भरोसा था कि आने वाले दिनों में जब बेटा पढ़–लिखकर कोई बड़ा बाबू बन जाएगा, तो उनके भी दिन लौटेंगे।"[24]

अली अहमद को आशा थी कि उसका बेटा बड़ा होकर उसके सारे कष्टों को दूर करेगा, परंतु अपनी गरीबी के कारण उस बेटे को ढंग से खाना भी नहीं खिला पाता था। उसका बेटा "बुद्धू दुबला–पतला और बिल्कुल मरियल–सा लड़का था। टिटिहरी की टाँगों जैसे उसके पाँव थे और चेहरा बिन–पके पीले पड़ गए पपीते की तरह। आँखें धँसी हुई, गाल पिचके हुए।... उसकी कलाइयाँ बिल्कुल स्केल की तरह चपटी थीं, जिन पर नसें उभरी हुईं थी।

यानी कमोबेश उसकी हालत वैसी ही थी जैसी कि आज़ादी के बाद पैदा हुए उन तमाम बच्चों की थी, जिनके माता–पिता रोजी रोटी के लिए दर–दर की ठोकरें खा रहे थे... ।"[25]

पपीता वक्त के साथ स्वाभाविक विकास क्रम के तहत पक कर पीला होता है, परंतु कुछ बिन पके ही सूख कर पीले हो जाते हैं, उनका सारा रस सूख चुका होता है। ये बच्चे भी वैसे ही हैं। माता–पिता चाहकर भी उन्हें वे सुविधाएँ नहीं दे पा रहे हैं, जिनके द्वारा उनका स्वाभाविक विकास हो सके। वक्त की तीखी धूप ने उनका सारा रस सोख लिया है। ये बच्चे ही देश के भविष्य हैं, जिनके माता–पिता इस आस में दुःख के दिन काट रहे हैं कि ये बड़े होकर 'बाबू' बनेंगे और उनके सारे कष्ट दूर हो जाएँगे। ऐसी जीवन–स्थितियों में बच्चों के जीवित बचकर बड़े हो जाने की आशा ही बहुत बड़ी है, 'बाबू' बनने की आशा तो खुशफहमी ही कही जा सकती है। एक शाम खाकर और सारी चिकित्सकीय सुविधाओं से अंजान रहकर भी किसी तरह जीवित बच जाने वाले ये बच्चे, जो अच्छी शिक्षा भी प्राप्त नहीं कर पाते, बड़े होकर गरीबी की संस्कृति को आगे बढ़ाते हैं या फिर अपराध की संकरी गलियों की ओर मुड़ जाते हैं।

प्रकृति के कोप का सर्वाधिक प्रभाव भी उन्हीं गरीब लोगों पर पड़ता है, जो दर–दर की ठोकरें खा कर किसी तरह अपना पेट पाल रहे होते हैं। दिन भर मेहनत कर शाम का रूखा–सूखा जुटा पाने वाले परिवार बाढ़ या अकाल के दिनों में उससे भी वंचित रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में उनके पास भीख या सरकारी राहत पर जीने के सिवा कोई उपाय नहीं होता।

दूरवर्ती गाँव दुल्लोपुर, जहाँ अली अहमद अपने परिवार के साथ रहता है, तो सरकारी मदद से भी वंचित है। यहाँ के लोगों को मदद के लिए वहाँ के ईसाई पादरी का मुंह देखना पड़ता है, जिसकी सारी दयानतदारी ईसाई धर्म स्वीकार करने वालों के लिए है।

अकाल और भूख से जूझते अली के परिवार की सहायता न सरकार करती है, न ईसाई मिशनरी, क्योंकि अली अहमद ने ईसाई धर्म स्वीकार करने की पादरी की बात नहीं मानी थी। ऐसे परिवार में जन्म लेने वाला बुद्धू अगर इतना दुर्बल है, तो क्या आश्चर्य? यही दुर्बल और कमजोर बुद्धू जब कमजोरी के कारण बेहोश हो जाता है तो डॉक्टर अली से उसे घी, फल आदि खिलाने को कहता है। जो परिवार अपने बच्चों के लिए दो जून का खाना भी मुश्किल से जुटा पाता हो, वह घी और फल कहाँ से लाएगा– यह सोचना डॉक्टर का काम नहीं है। अली और उसकी पत्नी के लिए तो

डॉक्टर की यह सलाह पहेली ही है– "अल्ली ने रनिया की ओर और रनिया ने अल्ली की ओर देखा। मानों दोनों एक दूसरे से पूछ रहे हों कि डॉक्टर ने जो कहा, उसका मतलब क्या है?"[26]

जिस देश की एक तिहाई से अधिक जनसंख्या इन हालात में जिंदगी बसर कर रही हो, वहाँ विकास के दावे हास्यास्पद प्रतीत होते हैं। 'गरीबी हटाओ' जैसे कितने नारे आए और चले गए, परंतु गरीबी घटने की बजाय बढ़ती गयी है। व्यापक होती गरीबी और इसके निवारण में सरकार की नाकामी के पीछे अनेक कारण हैं, जिन्हें दूर किए बिना इससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता।

अर्थशास्त्रियों की नज़र में, "भारत में ग्रामीण गरीबी का मूल कारण कृषि में अर्द्धसामंती उत्पादन–संबंधों का होना है। स्वतंत्रता के बाद भूमि सुधारों के लिए जो कदम उठाए गए, वे अपर्याप्त थे और उत्पादन संबंधों में अधिक परिवर्तन नहीं ला सके। इसलिए लगभग सभी खेतिहर मजदूरों के परिवार, काफी संख्या में छोटे व सीमांत किसान तथा भूमिहीन–गैर कृषि क्षेत्रों में काम करने वाले श्रमिकों के परिवार गरीब हैं।"[27]

जमींदारी उन्मूलन के बावजूद किस तरह जमींदारों ने अधिकांश भूमि पर अपना कब्जा और प्रभाव बनाए रखा– यह हम देख चुके हैं। जिन चंदेक काश्तकारों को भूमि के कुछ टुकड़े प्राप्त हुए भी, वे खाद–बीज के लिए अपने 'सामंत' पर ही आश्रित रहे। सरकारी सहायता इन तक पहुँच नहीं पाई या पहुँचने नही दी गयी। मुआवजों तथा भूमि के पुनर्ग्रहण ने जमींदारों को आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त रूप से शक्तिशाली बनाए रखा था। सत्ता भी इनके साथ थी, "क्योंकि उन गाँवों के सामाजिक जीवन में ये वर्ग अत्यधिक शक्तिशाली बन गए थे और चुनाव, प्रशासन तथा अफसरशाही को भी प्रभावित कर रहे थे।"[28] इन वर्गों का हित इसी में था कि गरीब गरीब ही बने रहें, तभी वे इन स्वंयभू शासकों की 'परजा' बने रहकर चुपचाप जुल्म सह सकते थे। इसी कारण इन लोगों ने गाँव के गरीब किसानों को गरीब ही बनाए रखने की भरपूर कोशिश की। सरकारी इमदाद इन तक पहुंचने नहीं दी गयी, बल्कि उन्हें ऊपर ही ऊपर बांट लिया गया। 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' के हाजी अमीरूल्ला भी इसी मानसिकता के कारण बुनकरों की सोसायटी नहीं बनने देते, क्योंकि वे जानते थे कि यदि बुनकरों की सोसायटी बन गयी तो ये बुनकर उनके पंजों से निकल जाएँगे। इसीलिए हाजी साहब न सिर्फ बुनकरों की सोसायटी नहीं बनने देते, बल्कि फर्जी सोसायटी बनाकर सारी सुविधाएँ स्वयं गड़प कर जाते हैं। 'मुखड़ा क्या देखे' के

अशोक पाण्डे तो दलित भूमिहीनों को सरकार द्वारा आवँटित भूमि पर कब्जा करने से भी नहीं चूकते।

वस्तुतः सरकारी मदद का एक छोटा–सा हिस्सा ही वास्तविक जरूरतमंदों तक पहुंच पाता है, क्योंकि उसमें भागीदार बनने के लिए सरकार से गरीब जनता तक कई बिचौलिए तैयार खड़े रहते हैं। सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों की मिली भगत से ही सरकारी राहत की बंदरबांट होती है– उन लोगों में जिन्हें इसकी जरूरत नहीं है, जबकि एक अली अहमद पत्नी के साथ दिन–भर मेहनत करने के बाद भी अपने बच्चे को अच्छा खाना नहीं खिला पाता।

सरकार के विकास कार्यक्रमों से अशोक पाण्डे और सत्तार जैसे लोगों का विकास अवश्य हुआ, परंतु अल्ली चुड़िहार और मखदूम नाऊ जैसे लोगों का कोई भला इससे नहीं हुआ। उल्टे, परंपरागत रोजगारों पर आघात के कारण उनकी रोजी पर संकट अवश्य आ खड़ा हुआ। देश के विकास में इन लोगों का कोई हिस्सा नहीं है। शहर से गाँव को जोड़ने के लिए सड़कें अवश्य बन रही हैं। लोग अब आराम से शहर पहुँच सकते हैं। परंतु, अल्ली चुड़िहार खुश नहीं है, क्योंकि इससे उसका धंधा प्रभावित हो रहा है। गाँव की स्त्रियाँ अब आराम से शहर जाकर नये फैशन की चूड़ियाँ पहन आती हैं और इसी बहाने शहर के सिनेमा हॉल से फिल्म भी देख आती हैं। रनिया की चूड़ियों को अब कोई नहीं पूछता। इसी प्रकार गाँव के लड़के अब मखदूम नाऊ से हजामत बनवाने को तैयार नहीं होते, क्योंकि उसे नये फैशन के फिल्मी सितारों की तरह के बाल काटने नहीं आते। अब वे शहर जाकर 'बांबे हेयर कटिंग सैलून' में बाल कटवाते हैं।

अल्ली चुड़िहार तथा मखदूम नाऊ जैसे लोगों को सरकार के विकास कार्यक्रमों का कोई लाभ नहीं पहुँचा है। जब तक विकास कार्यक्रमों से इन लोगों को नहीं जोड़ा जाएगा, ये कार्यक्रम सफल नहीं हो सकते और न ही गरीबी दूर करने की बात सोची जा सकती है। विकास की दौड़ में पीछे छूट जाने वाले लोगों को मुख्यधारा में लाने के लिए विशेष प्रयासों की आवश्यकता है। आधुनिक तकनीकों के आगमन से जो लोग अपने परंपरागत रोजगारों से वंचित हो गए हैं, उनके लिए वैकल्पिक रोजगारों की व्यवस्था और उनका प्रशिक्षण आवश्यक है ताकि न तो वे भुखमरी के शिकार हों और न ही गलत रास्तों की ओर मुड़ें।

'योगिनी विद्या है हर मर्ज़ का इलाज!'/अंधविश्वास एवं रूढ़िग्रस्तता

गरीबी निवारण और विकास कार्यक्रमों की विफलता के लिए जहाँ एक ओर सरकारी निष्क्रियता जिम्मेदार है, वहीं दूसरी ओर लोगों की रूढ़ मानसिकता की भी इसमें बड़ी भूमिका है। खानदानी पेशे के प्रति लगाव सनक की हद तक है। रनिया बेटे के समझाने के बावजूद चूड़ी पहनाना नहीं छोड़ती, क्योंकि यह उसका खानदानी पेशा है और खानदानी पेशे को भूल जाना 'भलमनइन' का काम नहीं है। किसानी का यह आलम है कि जिसके पास भूमि का एक छोटा–सा टुकड़ा भी है, वह खेती ही करेगा– चाहे उससे खेती का पूरा खर्च भी न निकले। खेती का तरीका भी सालों पुराना! यंत्रों के प्रयोग और उर्वरकों के लिए पैसे भी कहाँ हैं उनके पास? सरकार गरीब किसानों को आर्थिक मदद देती है, परंतु तमाम प्रक्रिया इतनी जटिल है कि बहुत कम किसान ही इसका लाभ उठा पाते हैं। अंततः इन सुविधाओं का लाभ संपन्न और पढ़े–लिखे किसान ही उठाते हैं। गरीब किसानों के लिए अब भी वही गाँव का महाजन और पुरानी मान्यताएँ। ये किसान अभी भी अपनी कृषि–संबंधी योजनाएँ अंधविश्वासी मान्यताओं के आधार पर बनाते हैं। इनके लिए अकाल का कारण राजा द्वारा किया गया पाप है और "अकास में बढ़नी निकरै ते समझो राजा पर बिपत पड़े वाली है। अउर राजा पर बिपत पड़ी त का परजा कउनो सुख भोगी।"[29] यही मानसिकता सारे रोगों की जड़ है। जब राजा पर ही विपत्ति पड़ी है तो प्रजा क्या कर लेगी? निष्क्रिय होकर कष्ट सहेंगे, लेकिन स्थितियों को बदलने की कोशिश नहीं करेंगे। स्थितियों को बदलने का दायित्व ऊपरवाले पर है। उनका काम सिर्फ प्रतीक्षा करना और ऊपर वाले पर भरोसा बनाए रखना है। प्रतीक्षा भूमिपतियों के जुल्म से मुक्ति की...। प्रतीक्षा अच्छे दिनों के आने की...। बारिश नहीं होने से फसल नष्ट हो गई, लेकिन लोगों को उम्मीद है कि इस बार इन्द्र देव जरूर प्रसन्न होंगे और वे पेट पर हाथ रखे बारिश की प्रतीक्षा कर रहे हैं। बीमार व्यक्ति इलाज़ नहीं करा रहे, बल्कि माता के प्रसन्न होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

अंधविश्वास का यह आलम है कि रोगों के इलाज के लिए भी लोग भगवान के भरोसे रहते हैं या टोने–टोटकों का सहारा लेते हैं। अली के बेटे बुद्धू की पुत्री की दुर्बलता के इलाज के लिए उसकी पत्नी भूरी को गाँव वाले जो मशवरे देते हैं, उनके नमूने द्रष्टव्य हैं–

"... रोज संझा–सबेरे, हनुमानजी के नाम का जाप किया करो। बड़े सक्तिसाली देउता हैं, सब ठीक होय जाई।"

"... अइसा करना, जुम्मावाले दिन अगरबत्ती सुलगा के गाजी मियाँ से मानता मान लेना।"[30]

चेचक को 'माताजी' समझा जाता है, जिसमें दवा करना पाप है। इसलिए दवा करने के बजाय 'माताजी' को प्रसन्न करने की चेष्टा की जाती है। घर के लोग (सिर्फ रोगी नहीं) यदि तेल, घी और गोश्त का प्रयोग छोड़ दें तो 'माताजी' प्रसन्न हो जाती हैं। यह मान्यता सिर्फ हिन्दुओं में ही नहीं, मुसलमानों में भी है। बुद्धू की बेटी को चेचक होने पर उसकी मां रनिया बुद्धू को उसे इंजेक्शन देने से रोक देती है, क्योंकि 'माताजी' का इलाज इंजेक्शन से नहीं होता– "...आज से घर में तेल, घी क कउनो चीज न बने। देख बुद्धू, तुहंऊ सुन ले। जब तक बिटिया ठीक न हुइ जाए, गोस–फोस न लाना घर में।"[31] गरज़ यह कि हर रोग का इलाज़ देवी–देवताओं और पीर–फकीरों के हाथ में है और दवाओं की जगह हैं टोटके। कुत्ते के काटने पर 'रेबीज' की सुई लगाने की कोई जरूरत नहीं है। आस–पास के सात कुएँ झाँक लो, बस! सब ठीक हो जाएगा।

जीवन के हर क्षेत्र में ऐसी ही अंधविश्वासी मान्यताओं का बोलबाला है। कब किस दिशा में जाना है और किस दिशा में नहीं जाना है– इसकी पूर्व निश्चित मान्यताएँ हैं, जिनका उल्लंघन होने पर विपत्ति आ सकती है।

अली के मध्य प्रदेश प्रवास के दौरान उसके पड़ोसी खलील का ब्याह तय करने के लिए दूसरे गाँव जाने के कार्यक्रम को गाँव के दसरथ गोंड़ ने बदल दिया– "सुम्मार को जाना ठीक नहीं होगा, मुड़की पूरब में है। सोम–सनीचर पुरूब न चालू। मंगल बुध उत्तर दिस कालू। जाना है तो अइतवार के दिन ही चले जाओ।"[32] दसरथ गोंड़ की सलाह मान कर गाँव वाले सोम की जगह इतवार को ही ब्याह करने गए, जहाँ लड़की की मां ने न सिर्फ विवाह से इंकार कर दिया, बल्कि अपमानित भी किया। यानी, 'शुभ दिन' जाने का कोई लाभ नहीं हुआ। इसी प्रकार अगर कहीं जाते वक्त 'छूछी बाल्टी' देख लें तो निश्चय ही कुछ बुरा होगा। यानी, क्या होने वाला है, यह निकलने का दिन और निकलते वक्त घटी किसी घटना से ही तय हो जाता है। भविष्य का शेष हाल जानने के लिए लोग 'योगिनी विद्या' का सहारा लेते हैं। गाँव में 'योगिनी विद्या' के जानकार हैं बिशुन भाट, जिन्होंने डाकिये की नौकरी छूटने के बाद 'योगिनी विद्या' सीख ली और अब बिशुन पंडित कहलाते हैं– "नौकरी से मुक्ति के बाद बिशुन भाट गाँव छोड़कर न जाने कहाँ चले गए थे। फिर लौटे, तो एकदम नए रूप में। अब वे बिशुन भाट नहीं बिशुन पंडित कहलाते थे। भाग्य पर भरोसा रखने

वालों से वे सदा–सर्वदा घिरे रहते थे। बिशुन पंडित के पास ऐसी ढेरों कहानियाँ थीं, जिनमें कलकत्ता–बंबई से लेकर फ्रांस–अमेरिका तक के अनेकानेक अभागे लोग थे। उनके भाग्य को बदलने में बिशुन पंडित ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और एवजी में उन्हें तरह–तरह के उपहार प्राप्त हुए थे। उन कहानियों ने बलापुर के भाग्यवादियों में ऐसा विश्वास जगाया था कि गाँव के लोग तभी उनकी दालान में प्रवेश करते थे जबकि उनकी टेंट में कम–से–कम सवा ग्यारह रूपये की पूँजी हुआ करती थी।"[33]

'योगिनी विद्या' सिर्फ भविष्य ही नहीं बताती, बल्कि वर्तमान समस्याओं का समाधान भी करती है। एक पुड़िया भस्म से कठिन–से–कठिन समस्या हल की जा सकती है। हाँ, अगर कठिन समस्या का पक्का निदान करना हो तो बिल्ली का आँवर, उल्लू का कलेजा और घोड़ी की जीभ की जरूरत होती है, जैसा कि बिशुन पंडित ने अशोक पाण्डे से बताया। इन चीजों की मदद से बनाया गया गंडा हर मनोकामना पूर्ण कर सकता है।

बिशुन पंडित ने मरने से पहले 'योगिनी विद्या' का 'रहस्य' गाँव के मुन्ना नचनिया को बता दिया और वह महात्मा सच्चिदानंद बन बैठा। इन महात्मा जी के बारे में गाँव के लोगों के विचार उल्लेखनीय हैं–

'अरे गनेस की अम्मां, जेका ऊ भर नजर निहार देय, समझि लेब तरि गवा ऊ।"

अरे सुनिउ जवाहर बउ, भाबी क बात, ऊ अइसन बतावेथिन जनुक साच्छात बरहमा जी बोलाथिन।'

'सुना है कि अब तक कोऊ खाली हाथ लउटिस नाहीं। बाँझ मेहरारून क गोदि भरि गS। जेकरे लड़किए–लड़की रहिन, ओकरे गोदी में बाबा खेलत बाटे। अरे हमारे गाँव क भागै अहे कि कजनी कहाँ से अउतरित होइ गयेन महतमाजी।'[34]

लेखक का कहना है कि गाँव के पढ़े–लिखे लोग इसे मूर्खता समझते थे, परंतु ये पढ़े–लिखे लोग कौन थे– यह स्पष्ट नहीं हो पाता, क्योंकि गाँव का पढ़ा–लिखा युवक अजय महात्माजी का सबसे बड़ा भक्त है और अपना सारा समय वहीं गुजारता है। अजय महात्माजी को अन्तर्यामी भी समझता है और उनसे गाँव में हुई हत्याओं का

रहस्य जानने के लिए प्रयत्नशील है। उल्लेखनीय है कि लेखक ने अजय को 'गाँव की आशा' के रूप में चित्रित किया है।

'बलापुर में न स्कूल है न मदरसा!'/दोषयुक्त शिक्षा पद्धति

आमतौर पर अशिक्षा को अंधविश्वास का कारण माना जाता है, परंतु गाँव के अशोक पाण्डे, अजय आदि 'शिक्षित' युवकों की ज्योतिष एवं अंधविश्वासी मान्यताओं के प्रति आसिक्त देखकर यह आसानी से समझा जा सकता है कि वर्तमान शिक्षा इन अंधविश्वासों को दूर करने में सक्षम नहीं है। यहाँ तो विद्यार्थी परीक्षा में उतीर्ण होने के लिए भी पुस्तकों की बजाय ताबीजों की शरण लेते हैं और विभिन्न देवी–देवताओं की मन्नत मांगते हैं।

समाजशास्त्री गिसवर्ट के अनुसार– "शिक्षा का अर्थ उसे ग्रहण करने वाले में उन आदतों और दृष्टिकोणों का विकास करना है, जिसके द्वारा वह भविष्य का सफलतापूर्वक सामना कर सके।।"[35] हमारी शिक्षा–व्यवस्था इन मानदंडों पर खरी उतरने वाली शिक्षा देने में सक्षम नहीं है– यह अजय और अशोक पाण्डे जैसे 'शिक्षितों' की सोच देखकर स्पष्ट हो जाता है। जब 'पढ़े–लिखों' का यह हाल है तो शेष लोगों से क्या उम्मीद की हा सकती है, जबकि अधिक संख्या ऐसे ही लोगों की है? यह दुखद मगर सत्य हे कि देश की एक तिहाई जनसंख्या अपना नाम लिखना भी नहीं जानती। यह स्थिति इस तथ्य के बावजूद है कि– "शिक्षा के लिए केंद्रीय खर्च में निरंतर बढ़ोत्तरी की गई है। 1995–96 में यह 1,825 रूपये था, जो 1999–2000 में बढ़ाकर 4,700 करोड़ रूपये और 2000–2001 में 5,540 करोड़ रूपये किया गया...।"[36] शिक्षा पर इतने खर्च के बाद भी सरकार हर गाँव में एक विद्यालय की स्थापना भी नहीं कर पाई है।

बड़े भाई की ख़्वहिश के बावजूद अली अहमद पढ़ नहीं सका क्योंकि, "बलापुर में न कोई सरकारी स्कूल था और न मदरसा। एक स्कूल गाँव से तीन मील के फासले पर करमा बाजार में था, जहाँ प्रतिष्ठित हिंदू परिवारों के बच्चे जाया करते थे।"[37]

'प्रतिष्ठित परिवारों' को छोड़कर अन्य हिंदुओं तथा मुसलमानों के लिए पढ़ाई की कोई व्यवस्था नहीं थी। पच्चीस साल बाद गाँव में पाठशाला तो खुल गई है, परंतु वहाँ पढ़ाने के लिए कोई अध्यापक नहीं है। एक शिक्षिका थी तो उनका तबादला हो गया और नई शिक्षिका के आगमन के बारे में अभी कुछ निश्चित नहीं है। इसलिए जब

तक कोई शिक्षिका नहीं आ जाती, पाठशाला को तो बंद ही रहना है। वस्तुतः समूचे शिक्षा तंत्र के प्रति सरकार का यही दृष्टिकोण नजर आता है। जो अपने बच्चों को महंगे पब्लिक स्कूलों में पढ़ाने में सक्षम हैं, उनके लिए तो कोई समस्या नहीं है, परंतु गरीबों के बच्चे क्या करेंगे? उनके लिए तो पढ़ाई का मतलब है सरकारी पाठशाला और जब पाठशाला ही बंद हो गयी तो...।

ईसाई मिशनरियों ने देश–भर में अनेक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की है। खास कर, आदिवासी बहुल क्षेत्रों में तो ईसाई–संस्थान ही एकमात्र विकल्प नजर आते हैं। निस्संदेह मिशनरियों ने आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा के प्रसार में अग्रणी भूमिका निभाई है, लेकिन वे इन आदिवासियों को अपनी संस्कृति से विमुख करने के लिए भी उत्तरदायी हैं। कुछ मिशनरियाँ यदा–कदा आदिवासियों को सरकार से विद्रोह के लिए भी प्रोत्साहित करती हैं।

अली अहमद का बेटा बुद्धू दुल्लोपुर (मध्य प्रदेश) के एक ऐसे ही स्कूल में पढ़ता था, जहाँ अध्यापकों से लेकर विद्यार्थी तक सभी ईसाई (धर्म परिवर्तित आदिवासी) थे। रफी अहमद उर्फ बुद्धू वहाँ एकमात्र गैर ईसाई था। मिशन के इंडियन फादर अशोक फ्रांसिस "धर्म के मामले में बहुत कट्टर थे। वे अपने स्कूल में नियमित रूप से एक धार्मिक कक्षा लगवाया करते थे, जिसमें गिरजाघर का कोई न कोई ब्रदर पढ़ाने के लिए जाता था और बाइबिल के 'न्यू टेस्टामेंट' से यूहन्ना, लूका तथा मरकुस आदि के 'सुसमाचार' पढ़ाया करता था।"[38] फादर फ्रांसिस अली अहमद को भी ईसाई हो जाने के लिए प्रलोभन दिया करते थे और ईसाई हो जाने पर उसके बेटे को पढ़ने के लिए विलायत भेजने की बात करते थे। तात्पर्य यह कि मिशनरियों द्वारा शिक्षण–संस्थाओं की स्थापना के पीछे ईसाई धर्म का प्रसार ही मुख्य लक्ष्य था।

बलापुर गाँव के अशोक कुमार पाण्डे ने भी गाँव में 'अंग्रेजी ढंग' का स्कूल खोला, परंतु स्कूल खोलने की उनकी इच्छा का शिक्षा का प्रसार से कोई लेना–देना नहीं था। "पं. अशोक कुमार पाण्डे जब गाँव की गलियों में चक्कर लगाते हुए सड़क की तरफ जा रहे थे, तभी उनकी निगाह बिशुन भाट की दालान पर पड़ी जहाँ तखत पर फटी–पुरानी किताबों का अंबार लगा था और अजय उन्हें झाड़–पोंछ रहा था। पं. अशोक कुमार पाण्डे चौंके। 'कहीं ऐसा तो नहीं कि ये लोग ललुआ की प्रापर्टी पर अपना कब्जा जमाना चाहते हैं? वे शंकालु हुए। उन्होंने मन–ही–मन तय किया कि उनके जीते–जी यह नहीं हो सकेगा।"[39] सो, दूसरों को ललुआ की 'प्रापर्टी' पर कब्जा करने से रोकने के लिए उन्होंने स्वयं ही उस पर कब्जा कर लिया और वहाँ 'सरस्वती शिशु मंदिर' का स्थापना कर दी। जब स्कूल की स्थापना के पीछे ही ऐसे उद्देश्य

काम कर रहे हों तो यह आसानी से समझा जा सकता है कि विद्यार्थी वहाँ कैसी 'विद्या' प्राप्त करेंगे।

पं. अशोक कुमार पाण्डे छीतूपुर स्कूल में सी.टी. ग्रेड के अध्यापक भी हैं, जहाँ 'इमरजेंसी' के दौरान दो से अधिक संतानों वाले अध्यापकों से नसबंदी कराने को कहा गया। जो अध्यापक स्वयं नसबंदी नहीं कराना चाहते थे, उन्हें कम–से–कम तीन लोगों को नसबंदी के लिए प्रेरित कर उनकी नसबंदी करानी थी और इस संबंध में पूरे प्रमाण प्रस्तुत करने थे। ऐसा नहीं करने वाले अध्यापकों के वेतन रोक दिए गए थे। पं. अशोक कुमार पाण्डे स्वयं तो संतानहीन थे, परंतु अपने मित्र श्री रमाशंकर पाण्डे की तनख्वाह रूकने के कारण चिंतित थे। अपने मित्र के लिए डॉ. रफी अहमद सिद्दीकी से 'प्रमाण पत्र' पाने में असफल रहने के बाद "वे कमर में देसी कट्टा बांधकर गए शहर और सर्टिफिकेट ले आए। समस्या हल हो गई। विद्यालय के अध्यापकों को वेतन मिल गया। सारे अध्यापक प्रसन्न हो गए।"[40] यही नहीं, अशोक पाण्डे ने गाँव के अर्द्धविक्षिप्त कुँवारे युवक लल्लू की भी नसबंदी करा दी। देश में पर्याप्त संख्या में विद्यालय भले न हों, अशोक पाण्डे और रमाशंकर पाण्डे जैसे शिक्षकों की कोई कमी नहीं है।

गाँवों में तो हालत ऐसी हो गयी है कि जो शख्स किसी भी काम के लायक नहीं है, वह अपना स्कूल खोल कर बैठ जाता है। गाँवों और कस्बों में सरकारी विद्यालयों के अभाव के कारण इन स्कूलों को अच्छी–खासी संख्या में 'शिक्षार्थी' भी मिल जाते हैं। अब जहाँ सरकारी विद्यालय नहीं हैं, वहाँ के बच्चे पढ़ने के लिए कहाँ जाएँ? अशोक कुमार पाण्डे जैसे लोगों द्वारा खोले गए 'अंग्रेजी ढंग' के स्कूलों में, जहाँ के शिक्षक स्वयं कट्टे लेकर घूमते हैं या मिशनरियों द्वारा संचालित उन स्कूलों में जहाँ धर्म–परिवर्तन के लिए प्रलोभन दिए जाते हों?

मुस्लिम समाज में शिक्षा के प्रसार में मदरसों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, परंतु हाल की कुछ घटनाओं पर नजर दौड़ाएँ तो ऐसे भी मदरसे सामने आए हैं, जो छात्रों को राष्ट्रद्रोह की शिक्षा देते रहे हैं।

इस प्रकार शिक्षा पर पर्याप्त ध्यान न देकर सरकार ने बच्चों को एक ऐसी अंधी गली में भटकने के लिए छोड़ दिया है, जहाँ से अच्छा नागरिक बन कर निकलना संभव नहीं प्रतीत होता।

शिक्षा के क्षेत्र में सुधारों के प्रति सरकार जितनी निष्क्रिय है, देश की जनता का एक बड़ा हिस्सा भी उतना ही उदासीन है। बहुत से माता–पिता तो अपने बच्चों

को स्कूल भेजना ही नहीं चाहते क्योंकि बच्चे के स्कूल चले जाने से आजीविका में सहायक श्रम की एक इकाई कम हो जाती है। कृषि, दस्तकारी या ऐसे ही छोटे–मोटे धंधे करने वाले परिवारों में अमूमन ऐसा देखा जाता है कि माता–पिता अपने बच्चों को स्कूल भेजने की बजाय अपने साथ काम पर लगाना ज्यादा फायदेमंद समझते हैं। यही कारण है कि अली अहमद की पत्नी रनिया बेटे बुद्धू की पढ़ाई छूटने पर मन–ही–मन प्रसन्न हुई और अगले ही दिन से उसे चूड़ी पहनाने के लिए साथ ले जाने लगी– "बाल–बच्चे आखिर होते किसलिए हैं?... चूड़िहार का बेटवा चूड़ी न पहनाएगा तो क्या डिप्टी कलट्टरी करेगा?"[41] इसी प्रकार वह अपनी बेटी ताहिरा को भी चूड़ी पहनाने के काम में लगाना चाहती है, परंतु बुद्धू के विरोध के कारण ऐसा नहीं हो पाता।

सरकार को न सिर्फ अधिक से अधिक प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना कर वहाँ सुयोग्य शिक्षकों की नियुक्ति का अपना दायित्व पूरा करना है, बल्कि लोगों को शिक्षा का महत्त्व समझाते हुए उन्हें अपनी संतानों को पाठशाला भेजने के लिए प्रेरित भी करना है। तभी देश के भविष्य इन बच्चों को सुशिक्षित बनाया जा सकता है।

वर्तमान आंकड़ों के अनुसार, "जनसंख्या वृद्धि को देखते हुए यह कह सकते हैं कि हर वर्ष हमें लगभग 1.8 करोड़ अतिरिक्त बच्चों की पढ़ाई का इंतजाम करना है। इस वक्त साल में लगभग 6000 प्राथमिक स्कूल खोले जा रहे हैं, जो 12 लाख बच्चों को स्थान देते हैं।"[42] अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रमों द्वारा भी प्रतिवर्ष काफी बच्चों को शिक्षा दी जाती है। इसके बावजूद हर वर्ष एक करोड़ से अधिक बच्चे प्राथमिक शिक्षा से वंचित रहकर निरक्षरों की संख्या में वृद्धि करते हैं। जो बच्चे स्कूलों में दाखिल होते भी हैं उनमें से आधे से अधिक पाँचवीं कक्षा तक पहुँचने के पहले ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। "प्राथमिक स्कूलों तक टिके रहने की दर भारत में 38.0 प्रतिशत है। इसकी तुलना में चीन में 70.0 प्रतिशत, मिश्र में 64.3 प्रतिशत, मलेशिया में 97.2 प्रतिशत, श्रीलंका में 90.8 प्रतिशत और सिंगापुर में 90 प्रतिशत है।"[43]

'कानूनी बिजली के लिए पांच सौ रूपया घूस'/भ्रष्टाचार

वस्तुतः ग्रामीण समाज की अनेक समस्याओं के मूल में अशिक्षा ही है। अशिक्षित ग्रामीण अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं होते और आसानी से चंद शोषकों के बहलावों के शिकार हो जाते हैं। सरकार इन गरीबों के विकास के लिए अनेक योजनाओं का निर्माण करती है– यह जाने बगैर कि उन योजनाओं का लाभ चंद बिचौलियों के हाथों में सिमट कर रह जाता है और अशिक्षित ग्रामीण जानकारी के अभाव में उनका प्रतिकार भी नहीं कर पाते। इसी कारण अशोक पाण्डे जैसा कोई

शख्स उन्हीं के लिए आवंटित सरकारी जमीन पर पैसे लेकर कब्जा देता है और उन्हें बेवकूफ बनाकर अपना उल्लू सीधा करता है। इस प्रकार ये ग्रामीण जाने–अनजाने भ्रष्टाचार को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होते हैं। गाँव में बिजली आ गई, परंतु कानूनी तौर पर इस बिजली का उपयोग करना गाँव वालों के लिए सहज नहीं है– "कानूनी बिजली लेने में पांच सौ रूपिया घूस देना पड़ता है। सब लोग तार में कटिया फंसा–फंसा के काम चला रहे हैं। कभी–कभी बिजलीवाला आता है और दस–पाँच रूपये में मान जाता है।" [44] बिजली वाले को मुफ्त में दस–पाँच रूपये मिल गए और गाँव वालों को दस–पाँच रूपये में बिजली मिल गयी– दोनों फायदे में हैं, देश का नुकसान हो तो हो। परंतु, इस भ्रष्टाचार के लिए गाँव वालों से ज्यादा दोषी हैं– बिजली वाले तथा उसके जैसे ही भ्रष्ट कर्मचारियों से सुसज्जित सरकारी तंत्र। ये 'पढ़े–लिखे' कर्मचारी छोटे–छोटे लाभ के लिए अपना कर्तव्य भूलकर भ्रष्ट आचरण का सहारा लेते हैं। नियमपूर्वक अपना काम कराने की इच्छा रखने वालों को इस कदर परेशान किया जाता है कि वे भी दस–पाँच देकर ही काम कराना ज्यादा अच्छा समझते हैं।

कर्मचारियों का एक बड़ा वर्ग ऐसा है, जो गैर कानूनी कार्यों की ओर से आँखें मूँदे रहता है और बिना अपना दायित्व निभाए वेतन प्राप्त करता है। दुल्लोपुर का 'फारेस्ट गार्ड' ऐसा ही कर्मचारी है। उसका काम जंगल की रखवाली करना है, परंतु उसे इस कार्य से कोई मतलब नहीं है। आदिवासी गैरकानूनी तौर पर जंगल काट कर खेत बनाते हैं, परंतु यह 'फारेस्ट गार्ड' देखकर भी नहीं देखता। वह आता अवश्य है, परंतु चाय पीने के लिए। आदिवासी नहीं जानते कि इस तरह अंधाधुंध जंगल काट कर वे अपना ही नुकसान कर रहे हैं। उन्हें यह समझाना सरकार की जिम्मेदारी है। आदिवासियों के लिए आजीविका की वैकल्पिक व्यवस्था करके उन्हें जंगलों को नष्ट करने से रोका जा सकता है, परंतु सरकार इस कार्य में विफल सिद्ध हुई है।

वस्तुतः ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य आदि आधारभूत आवश्यकताओं एवं आजीविका की व्यवस्था के प्रति सरकार की उपेक्षा अकल्पनीय है। गाँवों में दूर–दूर तक कोई अस्पताल नहीं है। छोटे–मोटे रोगों का गाँव वाले घरेलू नुस्खों की सहायता से ही इलाज करते हैं। गंभीर बीमारी की स्थिति में यदि रोगी के परिवार वाले उसे शहर ले जाने में सक्षम हुए तो ठीक, वरना उसका भगवान ही रक्षक है। प्रसूति संबंधी कार्य तो गाँवों में आज भी दाइयों के जिम्मे ही है। चिकित्सा सुविधाओं के अभाव के कारण गाँववालों को मजबूरन नीम–हकीमों के चक्कर में फंसना पड़ता है। इन परिस्थितियों में रफी अहमद सिद्दिकी उर्फ बुद्धू–जैसा कोई पाँचवीं कक्षा तक पढ़ा

शख्स आसानी से डॉक्टरी का पेशा अपना सकता है। गाँव वालों के लिए बीड़ी–सिगरेट या चाय–पान बेचने और डॉक्टरी करने में कोई फर्क नहीं है। तभी तो, बवाली बुद्धू को डॉक्टरी का धंधा करने की सलाह देते हुए कहता है– "करीम सिलाई कर रहा है, सलीम बीड़ी–सिगरेट बेच रहा है। मोती बनिया के लौंडे ने चाय–पान की गुमटी लगा ली है। तुम भी ऐसा ही कुछ करो।... हमारे भइया करते हैं डॉक्टरी। वो तुम्हें भी सिखा देंगे। डॉक्टरी में आजकल बहुत आमदनी है।"[45]... और 'एलोपैथिक मेटेरिया मेडिका' का अध्ययन करके बुद्धू बन गया डॉ. रफी अहमद सिद्दीकी। देश में ऐसे डॉक्टरों की भरमार है। इनकी जांच करने वाले अधिकारी भी 'बिजलीवाले' जैसे ही हैं, जो अपना हिस्सा लेकर लौट जाते हैं। इस प्रकार जब शिक्षा और चिकित्सा से संबंधित पेशों का यह हाल है तो बाकी क्षेत्रों में भ्रष्टाचार के प्रसार का अंदाजा सहज ही लगाया जा सकता है। वस्तुतः भ्रष्टाचार इस देश रूपी शरीर की धमनियों में फैल चुका है और समूचे रक्त को विषैला बना रहा है।

बिस्मिल्लाह के अन्य उपन्यासों में भी सरकारी तंत्र के भ्रष्टाचार के विस्तृत चित्र मिलते हैं। 'समर शेष है' में सरकारी कर्मचारियों द्वारा अकाल–राहत–सामग्री की बंदरबांट का वर्णन है, तो 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' में बैंक अधिकारियों की मिली–भगत से गरीब बुनकरों के लिए आवंटित धन का घोटाला दिखाया गया है।

'घी कहाँ अड़ान? थरिये में'/अवसरवादी एवं भ्रष्ट राजनीति

जिन लोगों पर इस भ्रष्टाचार को रोकने की जिम्मेदारी है, वे स्वयं इस भ्रष्ट आचरण में सहभागी हैं। लेखक ने 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' में दिखलाया है कि एक नेता को चुनाव जीतने के लिए कितना खर्च करना पड़ता है। दंगा करवाना और फिर उसमें राहत–सामग्री बँटवाना, बूथ लूटने के लिए गुंडों को पालना– ये सारे काम काफी खर्चीले हैं और जब इतना खर्च करके जीतने वाला नेता मंत्री बन जाए तो वह जितनी जल्दी हो सके सारा खर्च बमय सूद वसूलना चाहता है। ऐसी स्थिति में उसके समक्ष सबसे सरल रास्ता भ्रष्टाचारियों का साथ देने का है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। माना जाता है कि ये राजनीतिक दल लोगों को जागरूक करने का कार्य करते हैं। परंतु, हमारे देश में राजनीतिक दलों को और भी जरूरी काम हैं। इन राजनीतिक दलों को नापसंदीदा लोगों का तबादला कराना है, दबाव डालकर मुकदमों का मनचाहा फैसला करवाना है। इन सबसे वक्त मिले तो लोगों को जाति एवं धर्म के नाम पर लड़वाना है, ताकि अपना उल्लू सीधा किया जा सके। अगर कोई राजनीतिक दल सत्ता में हो

तो क्या कहने? फिर तो दल के अदने सदस्यों की भी पूछ बढ़ जाती है। ये छुटभैये नेता और कुछ नहीं कर सकते तो विरोधियों को पार्टी के नाम पर धमका कर चुप तो करा ही सकते हैं, जैसा बवाली ने किया–

"देखो बुद्धू, तुम 'डाक्टर साहब' हो तो हमारी बदौलत हो। हमारी जनता की बदौलत हो। हम जानते हैं कि तुम क्या कहना चाहते हो। हमें तुम हमारी सच्चाई बताना चाहते हो? क्यों? तो ये समझ लो कि डॉक्टरी करनी है तो होस–हवास संभाल के करो। समझे?"[46]

बवाली राजनीतिक अवसरवाद का एक छोटा–सा उदाहरण है। शोषण मुक्त समाज की स्थापना और सशस्त्र क्रांति की बड़ी–बड़ी बातें करने वाला बवाली मौका मिलते ही सत्ताधारी कांग्रेस में शामिल हो जाता है और इसके साथ ही उसका सुर भी बदल जाता है।

सत्ताधारी दल के छोटे–से–छोटे नेता भी पार्टी के नाम का फायदा उठाने से नहीं चूकते। पं. दयाशंकर पाण्डे भी कांग्रेस के एक छोटे–से नेता ही हैं, परंतु उनके पास लोगों के तबादले से लेकर मुकदमों में दबाव डलवाने तक की सिफारिशें आती हैं। चाचा सृष्टिनारायण पाण्डे उनसे लता का तबादला कहीं दूर करा देने के लिए कहते हैं, जिसने उनकी 'नाक कटा दी है,' तो पुत्र अशोक पाण्डे उनसे एक मुकदमे में मनचाहे फैसले के लिए पार्टी के प्रभाव का इस्तेमाल करने को कहते हैं। दयाशंकर अपनी असमर्थता जाहिर करते हुए कहते हैं कि अब उनकी पार्टी का 'राज' नहीं रहा। अर्थात, अगर पार्टी का राज होता तो यह काम कोई मुश्किल नहीं था।

'मुखड़ा क्या देखे' में लेखक ने देश के राजनीतिक चरित्र और उसमें होने वाले परिवर्तनों को भली–भांति एवं सूक्ष्मता से रेखांकित किया है।

आज भाजपा को सांप्रदायिक कहती हुई कांग्रेस पार्टी अपनी धर्मनिरपेक्षता का ढोल जोरों से पीट रही है। बहुत से अन्य लोग भी इसी भ्रम के शिकार होकर कांग्रेस की धर्म–निरपेक्षता के गुण गाते हैं, परंतु लेखक को कोई भ्रम नहीं है। लेखक के अनुसार– "कहीं न कहीं ऐसा लगता है कि कांग्रेस के अंदर भी कुछ ऐसे तत्व थे, जिनका झुकाव उसी तरह की विचारधारा की तरफ था, जिसको विकसित कर रही थी ये पार्टी–जनसंघ। लेकिन वो बहुत साफ दिखाई नहीं पड़ता था। बहुत दिनों तक एक भ्रम की स्थिति थी। कांग्रेस का जो स्वरूप प्रचारित किया गया वो ऐसे जैसे वाकई वो एक 'सेकुलर' पार्टी है। लेकिन धीरे–धीरे ये उजागर होता चला गया। जिन दिनों

सत्ता में कांग्रेस थी, उन्हीं दिनों जनसंघ का बहुत बड़ा उभार हुआ। अचानक ऐसा लगने लगा जैसे उन्हें भी (कांग्रेस को) साबित करना होगा कि हम भी हिंदू हैं।

मुझे लगा ये आना चाहिए। राजनीति पर बात करने वाले इससे बचें, या हो सकता है इतिहास लिखने वाले भी बचें। लेकिन साहित्य जो लिख रहा है, उसका दायित्व बनता है कि इस अंतर्विरोध को सामने लाए।"[47]

'मुखड़ा क्या देखे' में लेखक ने दयाशंकर पाण्डे के माध्यम से इस अंतर्विरोध को सामने लाने का प्रयास किया है। दयाशंकर पाण्डे कांग्रेसी हैं, जबकि उनके चाचा सृष्टिनारायण जनसंघी। दयाशंकर पाण्डे को गाँव की राजनीति में कोई खास दिलचस्पी नहीं थी, परंतु चाचा सृष्टिनारायण उन्हें प्रधानी के 'इलेक्शन' में खड़े होने के लिए समझाते हैं– "यही तो राजनीति है। राजनीति और कहते किसे हैं? अरे, तुम ठहरे कांग्रेसी। और हम तो भई अब जनसंघी मान ही लिए गए हैं। मुलाँ गाँव में अभी ठीक तरह से जनसंघ पर विश्वास नहीं हुआ है। तुम पहले खड़े हो जाओ फिर हमारे फेवर में बैठ जाना।"[48] ... और दयाशंकर चाचा की बात मानकर चुनाव में खड़ो हो जाते हैं। कुछ ही दिनों बाद दयाशंकर अपना नाम वापस ले लेते हैं और अपने चुनाव चिह्न हाथी की बजाय समर्थकों से सृष्टिनारायण के ऊँट पर मुहर लगाने को कहते हैं क्योंकि दोनों ही विशाल हैं और भारतीय पशु हैं। इस प्रकार सृष्टिनारायण चुनाव जीत जाते हैं। दयाशंकर भी संतुष्ट हैं, क्योंकि "घी कहाँ अड़ान? थरियै में।"[49] स्पष्टतया यहाँ लेखक दिखलाना चाहता है कि कांग्रेस ने ही भाजपा के सत्ता में आने की जमीन तैयार की।

लेखक के अनुसार, जब जनसंघ का उभार बढ़ने लगा तो कांग्रेस भी स्वयं को हिंदू समर्थक पार्टी सिद्ध करने के लिए व्यग्र होने लगी। यह बात 1980 के आस–पास के राजनैतिक परिदृश्य में स्पष्ट देखी जा सकती है। 1980 में श्रीमती इंदिरा गाँधी की सत्ता में वापसी हुई। यह वापसी जनता पार्टी के विखंडन के कारण संभव हुई थी, न कि 'गरीबी हटाओ' और 'समाजवादी सरकार' जैसे उनके नारों के कारण। अब सत्ता में बने रहने के लिए इंदिरा जी को एक नए ढंग के 'वोट बैंक' की जरूरत थी। इसी कारण इंदिरा गाँधी ने बहुसंख्यक हिंदू समाज को सांप्रदायिक आधार पर गोलबंद करना शुरू किया। इस 'हिंदू कार्ड' का सर्वप्रथम इस्तेमाल जम्मू–कश्मीर के चुनावों में किया गया। और जम्मू के हिंदू–बहुल क्षेत्रों में कांग्रेस का मिली भारी सफलता ने इस नीति की सफलता की पुष्टि भी कर दी। जम्मू में उग्र हिंदू पार्टी के रूपमें चुनाव लड़कर कांग्रेस ने जनसंघ को उसके गढ़ में ही पराजित किया।

इंदिरा जी के उत्तराधिकारी श्री राजीव गाँधी ने भी इस सांप्रदायिक नीति को जारी रखा। "1984 का चुनाव राजीव गाँधी ने विशुद्ध सांप्रदायिक आधार पर लड़ा। तब उनका जो तेवर था, उसकी तुलना 1991 के चुनाव में भारतीय जनता पार्टी के तेवर से की जा सकती है। ... चुनाव जीतने के बाद राजीव गाँधी ने हिंदू सांप्रदायिक भावना को जीवित रखने तथा उसके आधार पर बने 'वोट बैंक' को बरकरार रखने का हर संभव प्रयास किया। चुनाव जीतने के बाद उन्होंने पहली घोषणा गंगा सफाई की की। यह पर्यावरण को ध्यान में रखकर नहीं की गयी थी। बल्कि हिंदू भावनाओं का तुष्टिकरण था।"[50] जिस राम–जन्मभूमि के जिन ने भाजपा को सत्ता–शीर्ष तक पहुँचाया, उसे बोतल से निकालने का काम भी राजीव गाँधी की सरकार ने ही किया।

लेखक के अनुसार,लोग कांग्रेस को वोट इसलिए नहीं देते कि उसके शासन में वे बहुत सुखी थे, बल्कि इसके इतर कारण हैं। मुस्लिम कांग्रेस को इसलिए वोट देते थे कि कांग्रेस के हटने पर कहीं जनसंघ न आ जाए। कांग्रेस समर्थक पतरस अली अहमद को समझाता है– "यह तो तुम जानते ही हो न कि जनसंघ एक ऐसी पार्टी है, जो तुम मुसलमानों के लिए आगे चलकर बहुत खतरनाक साबित हो सकती है...।"[51] अर्थात् जनसंघ को सत्ता में आने से रोकने के लिए कांग्रेस को वोट देना है, न कि विकास कार्यों के लिए।

जार्ज आरवेल के प्रख्यात उपन्यास 'एनीमल फार्म' में नेपोलियन और उसके साथी सुअर जानवरों को हमेशा आदमी के आने का भय दिखाते हैं और जानवर इस भय से उनके अत्याचारों को सहकर भी उनका समर्थन करते हैं कि कहीं 'जॉन' न आ जाए। यहाँ भी वैसी ही स्थिति है। यह नकारात्मक राजनीति का एक उदाहरण है।

स्वयं पतरस तथा अन्य ईसाई कांग्रेस को इसलिए वोट देते हैं– "कि कांग्रेस ही वह पार्टी है, जिसे हमारे अंग्रेज बहादुर ने अपनी हुकूमत सौंपी है।"[52] निश्चय ही सारे ईसाई ऐसा नहीं सोचते। काफी संख्या में ईसाइयों के रहने के बावजूद केरल में कांग्रेस की हार की बाबत जब अली अहमद पतरस से सवाल करता है तो वह कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाता।

इसी प्रकार मुसलमानों की नई पीढ़ी भी धीरे–धीरे कांग्रेस से विमुख हो रही है। उसके लिए दयाशंकर पाण्डे और सृष्टिनारायण पाण्डे में कोई अंतर नहीं है। अली अहमद का भतीजा करीम कहता है– "इन ब्राह्मनों को आप नहीं जानते। सब काफिर जनसंघी हो गए हैं। जो इतनी भलमनसाहत दिखा रहे हैं न, तो जरूर कोई बात होगी। रामबिरिछ पाण्डे का व्यवहार याद नहीं है क्या? अउर ऊ सृष्टी, जनसंघी। ये

दयाशंकर महराज भी तो उसी बुंद से पैदा हैं।"[53] कांग्रेस वस्तुतः काफी दिनों तक स्वतंत्रता–संग्राम में अपने नेताओं के योगदान को भुनाती रही– "कांग्रेस इस बात का धुआँधार प्रचार कर रही थी कि देश को हमारे नेताओं ने आजादी दिलाई है और यहाँ की जनता के एकमात्र कर्णधार हमीं हैं। इसलिए 'दो बैलों की जोड़ी' पर मोहर लगाकर पुनः हमीं को विजयी बनाएँ।"[54] गाँधी जी ने इसी आशंका से स्वतंत्रता के पश्चात कांग्रेस को भंग करने की सलाह दी थी। बाद के दिनों में कांग्रेसी नेताओं ने अपनी सत्ता–लोलुपता से गाँधी जी की आशंका को बिल्कुल सही सिद्ध किया।

राजनीतिक दलों की सत्ता लोलुपता ने आम जनता को राजनीति से ही विमुख करना प्रारंभ कर दिया। नेता चुनाव जीतने के पाँच साल बाद अगले चुनावों के समय ही नजर आते हैं। बीच के पाँच सालों में सत्ता–सुख के दौरान उन्हें अपने क्षेत्र की याद कभी नहीं आती है। नेहरू के बारे में अली अहमद के ये विचार आज के हर नेता पर खरे उतरते हैं– "जो राजा राजपाट मिलने के बाद अपने गाँव–घर को भूल जाए उसे राजा कहलाने का भला क्या अधिकार है?"[55] परंतु अली अहमद जैसे लोग सब कुछ समझने के बावजूद कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि उनके पास कोई विकल्प नहीं है। यह स्थिति लोकतंत्र के लिए अत्यंत ही खतरनाक है, क्योंकि यह जनता को राजनीति से विमुख कर रही है। 'कोउ नृप होय हमें का हानी'– यह सोच सिर्फ अली की नहीं है, बल्कि सरकार और राजनीति से निराश लोगों का एक बड़ा वर्ग ऐसे ही विचार रखने लगा है।

देश की भ्रष्ट एवं पदलोलुप राजनीति ने लोगों का कुछ भला भले ही न किया हो, उन्हें विभिन्न जातियों एवं संप्रदायों के नाम पर बाँट अवश्य दिया है। पार्टियाँ अब देश के कल्याण एवं विकास के नाम पर वोट नहीं माँगती, बल्कि खुलेआम जाति–विशेष या संप्रदाय के नाम पर वोट माँगती हैं। समझना मुश्किल है कि यह नीति अंग्रेजों के 'डिवाइड एण्ड रूल' से किस तरह अलग है। वस्तुतः इन दलों को किसी भी जाति या संप्रदाय के विकास में कोई दिलचस्पी नहीं है, इन्हें सिर्फ अपने 'विकास' से मतलब है। चुनावों में जिन दलों के विरोध के नाम पर ये वोट माँगते हैं, उन्हीं के साथ मिलकर सरकार बनाने में इन्हें कोई गुरेज़ नहीं होता। ऐसे ही अवसरवादी गठबंधनों के माध्यम से सत्ता–सुख भोगना इनका प्रमुख उद्देश्य होता है।

'कुछ न बोलो तो चमार–सियार की जात सिर पर चढ़ जाती है!' / जातिवाद

पिछले कुछ दशकों में देश में जातिवाद एवं सांप्रदायिकता में हुई भंयकर वृद्धि के लिए ये राजनीतिक दल ही जिम्मेदार हैं।

निःसन्देह जातिवाद की समस्या भारत की प्राचीनतम समस्याओं में से एक है, परंतु राजनीतिक दलों ने इस समस्या के समाधान के उपाय ढूंढने के स्थान पर इसे बढ़ाने में ही अधिक दिलचस्पी ली है।

सवर्णों ने तथाकथित निम्न जातियों को सदैव अपना सेवक ही समझा है। पं. रामवृक्ष पाण्डे का मानना है कि 'कुछ न बोलो तो चमार–सियार की जात एकदम सिर पर ही चढ़ जाती है।'[56] इन जातियों के पाँव जमीन पर रहें, इसके लिए इन्हें समय–समय पर घुड़कियाँ देना जरूरी है। चमार–पासी जैसी जातियाँ पिटाई के ही काबिल हैं, यह बात गाँव का मखदूम नाई भी मानता है। अली अहमद जब रामवृक्ष पाण्डे द्वारा स्वयं की पिटाई की बात मखदूम से कहता है तो उसकी प्रतिक्रिया से यही अर्थ ध्वनित होता है– "ई तुम का कह रहे हो। अरे का ऊ चमार–पासी समझ लिए हैं? ... ई तो भाई बड़ी बेइज्जती की बात है।"[57] यानी, चमार–पासी के लिए अकारण पिटाई इज्ज़त की बात है।

यूँ तो सवर्णों की नजर में नीची जातियों का कोई महत्त्व नहीं है। उन्हें गाँव के बाहर बसाया जाता है। उनसे छू जाने पर 'पवित्र' ब्राह्मणों को तुरंत स्नान करना पड़ता है, लेकिन यही जातियाँ जब हिंदू धर्म छोड़ने लगती हैं तो सारे धर्म पर ही संकट आ जाता है। सवर्णों को अचानक याद आता है कि ये लोग भी हिंदू ही हैं। सृष्टिनारायण जैसे लोग इन जातियों की नाबालिग बालिकाओं के साथ बलात्कार की कोशिश कर सकते हैं, परंतु ऐसी ही कोई बालिका जब किसी मुस्लिम से प्रेम करने लगती है तो सारी हिंदू अस्मिता ही खतरे में पड़ जाती है– "पासी हैं तो क्या हुआ, आखिर हैं तो हिंदू ही। और क्या तुम इस बात को बरदास करोगे कि एक हिंदू लड़की को कोई मुसल्ला...।"[58]

इसी प्रकार जब रामदेव चमार इस्लाम स्वीकार कर लेता है तो सृष्टिनारायण परेशान हो जाते हैं और गाँव के मुसलमानों को धमकी देने से भी नहीं चूकते– "ऊ रामदेउवा चमार मुसलमान हो गया है। सत्तार तो है नहीं, हमें पूरा बिस्वास है कि उसे तुम्हारे अब्बा ने ही भड़काया होगा। उनसे कह दो कि गाँव में रहना है तो सोच–समझ कर रहें। नहीं तो बात बहुतै बिगड़ जाएगी। समझे?"[59]

रामदेव जब भूखा मर रहा था, तो पाण्डे जी को उसकी चिंता नहीं थी। उस वक्त एक मुस्लिम ने ही उसकी मदद की, परंतु रामदेव के मुसलमान बनते ही वे चिंतित हो उठते हैं।

लेखक ने यह भी दिखलाया है कि इन तथाकथित नीची जातियों की समस्या का हल धर्म परिवर्तन नहीं है, क्योंकि जातिवाद का यह जहर मुसलमानों और ईसाइयों में भी फैल चुका है। इसलिए रामदेव चाहे मुस्लिम बन जाए या ईसाई, रहना उसे वहीं है– यानी, समाज के सबसे निचले पायदान पर।

अली अहमद के बाप–दादा ने भी कभी अपना धर्म बदला था और हिंदू से मुसलमान हुए थे। "मगर जाति? जाति तो नहीं बदली थी उनकी। वे पहले भी निम्न जाति के थे और अब भी हैं। ऊँच–नीच का यह भेदभाव हर मजहब और मुल्क के हर हिस्से में मौजूद है। इस भेदभाव को न कोई संत मिटा सका न कोई पैगंबर।"[60]

अली अहमद भी पहले यही समझता था कि सभी मुसलमान बराबर होते हैं, परंतु जब जब्बार मौलवी ने उसकी बजाय उसे पीटने वाले रामवृक्ष पाण्डे का साथ दिया तो उसका यह भ्रम दूर हो गया कि वह और जब्बार मौलवी मुसलमान होने के कारण बिरादर हैं। यह विभेद सिर्फ धन का नहीं है, इसे जब्बार मौलवी के पुत्र सत्तार के व्यवहार से समझा जा सकता है जिसे अली अहमद को उसकी जाति का बताया जाना भी गाली के समान महसूस होता है– "देखिए पंडित जी, अब ऐसी गाली तो न दीजिए। ऊ चुड़िहार है और हम तुरक। एक जात–बिरादरी के कैसे हुए?"?[61]

जातिवाद का यह जहर समाज में इस बुरी तरह फैल चुका है कि चुड़िहार जैसी 'नीची' मानी जाने वाली जातियाँ भी घृणा करने के लिए स्वयं से नीची जातियाँ ढूंढ लेती हैं।

शब्बीर चुड़िहार उस पंगत मे खाने से इंकार कर देता है, जिसमें कल्लू चुड़िहार बैठा है। कल्लू अब चुड़िहारों की पंगत में खाने का अधिकारी नहीं रहा क्योंकि उसने एक बेहना की लड़की से शादी की है और "एक चुड़िहार बेहना की लड़की को बीबी बनए, क्या यह बर्दाश करने की बात है। कल्लू ने पूरे मुड़वारा टाट की तौहीनी की है।"[62]

यही हालत परिवर्तित ईसाइयों में है। हिन्दू समाज की जो जातियाँ धर्म परिवर्तित कर ईसाई बनी हैं, उनके यहाँ भी जातिवाद का जहर उतने ही मारक रूप में मौजूद है।

रूप सिंह गोंड़ अपने पूरे परिवार के साथ धर्म परिवर्तित कर ईसाई हो गया। अब उसका नाम पतरस था, परंतु उसके परिवार को अपना पुराना नाम न भूल सका। ऐसे लोग ईसाई धर्म अपना कर भी सिर्फ ईसाई न रह सके– गोंड ईसाई और कोल ईसाई बन कर रह गये। पतरस अपनी पुत्री का विवाह अंतोनी के पुत्र के साथ तय करता है, परंतु पतरस की पत्नी को यह रिश्ता मंजूर नहीं– "मैं उस अंतोनी को खूब अच्छी तरह जानती हूँ, जो अभी पंद्रह वर्ष पहले तक भुलवा कोल था। मेरे देखते–देखते वह भुलवा से अंतोनी हुआ है। वह अपने बेटे का ब्याह रूपसिंह गोंड़ की लड़की से करेगा?"[63]

जातिवाद का यह जहर संस्कारों में इस तरह घुलमिल गया है कि धर्म–परिवर्तन उसका निदान नहीं हो सकता। ऊँची जातियों द्वारा दुत्कारी जाने वाली नीची जातियाँ भी स्वयं से और नीचे पायदान पर खड़ी जातियों पर घृणा उड़ेलने से बाज नहीं आतीं। धर्म परिवर्तन कराने वाली ईसाई मिशनरियाँ इन संस्कारों को बदल पाने में नाकाम रही हैं। प्रलोभनों के द्वारा लोगों को धर्मांतरित कराने के बाद उनकी सामाजिक स्थिति क्या रहती है– मिशनरियाँ इसकी ज्यादा चिंता नहीं करतीं। उनका मकसद सिर्फ धर्मांतरण है, जिसके लिए वे तमाम प्रलोभन देती हैं– "अरे अली अहमद, तुम ईसाई क्यों नहीं हो जाते? आखिर प्रभु यीशु ख्रीस्त को तो तुम लोग भी मानते हो। अगर तुम ईसाई हो जाओ न, तो तुम्हारे बेटे को हम विलायत भिजवा दें पढ़नेके वास्ते।"[64]

ईसाई मिशनरियाँ मानवता का ढोल बड़े जोर–शोर से पीटती हैं, परंतु उनकी सारी मानवता, सारी दयानतदारी उन्हीं लोगों के लिए है, जिन्होंने ईसाई मत स्वीकार कर लिया है। अकाल के दिनों में राहतस्वरूप अन्न भी सिर्फ ईसाइयों को ही दिए जाते थे– "ईसाइयों की स्त्रियाँ फिर भी भली थीं, क्योंकि फादर से उन्हें पाउडर–दूध और डालडा घी के अलावा थोड़ा बहुत गल्ला भी मिल जाता था। उनके पतियों तथा बेटों को गिरजाघर, अस्पताल और स्कूल से भी कुछ न कुछ पैसे मिल ही जाते थे। वे सब वहाँ किसी न किसी काम से लगे हुए थे। मरन थी तो बस आदिवासी गोंडों, कोलों, बैगों और गरीब मुसलमानों की।"[65]

जिस प्रकार ईसाइयों की सारी मानवता प्रलोभनों के द्वारा धर्मांतरण कराने तक सीमित है, उसी प्रकार हिंदुओं की रूचि सिर्फ धर्म परिवर्तन का विरोध करने में है, उन कारणों को पहचानने और उन्हें दूर करने में नहीं जिनके कारण ये धर्म परिवर्तन हो रहे हैं। ये समझते हैं कि ईसाई मिशनरियों पर आक्रमण कर और उनकी हत्या कर ही ये हिंदू धर्म की 'सहिष्णुता' प्रमाणित कर देंगे और धर्म परिवर्तन का होना रोक देंगे।

दरअसल, धर्म परिवर्तन के विरोध के पीछे इनकी चिंता धर्म के हानि–लाभ की नहीं है। इनकी वास्तविक चिंता तो यह है कि नीची जातियों ने धर्म परिवर्तन कर लिया तो इनके तलवे कौन सहलाएगा? धर्म के नाम पर शोषण का व्यापार कैसे चलेगा? इसलिए इनकी कोशिश है कि 'नीची जातियाँ' नीची ही बनी रहें और इनका धर्म परिवर्तन भी न हो। यही कारण है कि सृष्टिनारायण रामदेव के धर्म परिवर्तन का विरोध करते हैं। यही सृष्टिनारायण भूरी एवं बुद्धू के प्रेम को हिन्दू–मुस्लिम का मामला बनाकर दंगा भड़काने की कोशिश करते हैं। दो संप्रदाय लड़ते हैं तो लड़ें, उनकी बला से। सृष्टिनारायण पाण्डे जैसे लोग तो इस आग को भड़काते ही इसलिए हैं कि उसमें अपने हाथ सेंक सकें।

'चरणामृत में गाय का पेशाब होता है।'/सांप्रदायिकता

अली अहमद का बेटा बुद्धू तोते पासी की लड़की भूरी के साथ गाँव से भाग जाता है और सृष्टिनारायण पासियों को भड़काकर अली अहमद की पिटाई करवा देते हैं। अली अहमद की पिटाई के वक्त दयाशंकर पाण्डे और सत्तार भी सृष्टिनारायण के साथ वहीं खड़े थे, "मगर इसे पूरे दृश्य को वे इस प्रकार देख रहे थे जैसे लोग दूर खड़े होकर मुर्गों की लड़ाई देखते हैं।"[66] यहाँ 'मुर्गों' की लड़ाई का बिंब अत्यंत सार्थक है मुर्गों की लड़ाई का जिक्र लेखक ने 'दंतकथा' के मुर्गे के द्वारा भी करवाया है– "...इन मनुष्यों ने मुर्गों में भी तो लड़ाई करवा रखी है। मुर्गे लड़ाना इनके शौक और मनोरंजन में शामिल है। मगर मुझे लगता है कि इसमें एक बड़ी साजिश भी है, कि हम इनसे लड़ने की बात सोच भी न सकें।"[67]

उपरोक्त दोनों बिंबों को एक साथ मिलाकर देखने से लेखक का मंतव्य स्पष्ट हो जाता है। लेखक की दृष्टि में सांप्रदायिकता के प्रसार के लिए जितने दोषी सृष्टिनारायण हैं, उतने ही गुनहगार सत्तार मौलवी भी हैं। यही लोग गाँव की भोली–भाली अशिक्षित जनता में सांप्रदायिकता का जहर भरते हैं।

सृष्टिनारायण पाण्डे के यहाँ सत्यनारायण की कथा का आयोजन है। सत्तार साहब मुसलमानों को चुपके से सलाह देते हैं कि "... पंजीरी ले तो लेना, पर उसे खाना हर्गिज नहीं।... जानते नहीं क्या, पंजीरी में ये लोग चरनामृत भी डालते हैं। और चरनामृत में क्या होता है जानते हो? उसमें गाय का पेशाब मिला होता है।"[68]

दरअसल, आम जनता सांप्रदायिक नहीं होती। सांप्रदायिक होते हैं ये चंद तथाकथित ऊँचे लोग जो भोली–भाली जनता को धर्म का हवाला देकर दंगाइयों की भीड़

में बदलने की कोशिश करते हैं। गाँव की सीधी–सादी जनता तक सांप्रदायिक भावनाएँ बाकायदा योजनाबद्ध ढंग से पहुँचाई जाती हैं और यह काम शहर के 'ऊँचे एवं शिक्षित' तबके के लोग करते हैं। 'आधा गाँव' में राही मासूम रज़ा ने दिखलाया है कि किस तरह पाकिस्तान का विचार और सांप्रदायिक भावनाएँ अलीगढ़ के छात्र गाँव के लोगों तक पहुँचा रहे थे। उनके लिए लोग ही नहीं बल्कि शब्द भी हिन्दू और मुसलमान हैं।

'मुखड़ा क्या देखे' के ग्रामीण जब जब्बार मौलवी की पत्नी को 'भउजी' कहते हैं तो उन्हें एतराज़ होता है, क्योंकि यह हिंदू–शब्द है। वे अपने आपको 'भउजी' की बजाय 'भाभी' कहलवाना पसंद करती हैं, क्योंकि यह मुस्लिम शब्द है। "भाभी और भउजी का यह फर्क उन्हें सत्तार के अब्बा से मालूम हुआ था और सत्तार के अब्बा को यह सब इलाहाबाद शहर के एक मौलाना से मालूम हुआ था। मौलाना तक यह बात शायद अलीगढ़ तहरीक से चलकर पहुँची थी।"[69]

जो काम मुसलमानों में अलीगढ़ वाले या इलाहाबाद के मौलाना कर रहे थे, वैसा करने वालों की हिंदुओं में भी कमी नहीं थी।

गाँव के समीपवर्ती स्कूल में शाखा भी लगती थी, जिसके कर्ता–धर्ता सृष्टिनारायण पाण्डे थे। इस 'शाखा' में मुस्लिम छात्रों का प्रवेश वर्जित था। अली अहमद का बेटा बुद्धू भी उसी स्कूल में पढ़ता था, परंतु वह शाम को लगने वाली शाखा में नहीं जा सकता था। अशोक पाण्डे तथा उनके जैसे अन्य लड़के, जो शाखा की 'विशेष शिक्षा' प्राप्त करते थे, बुद्धू को मुसल्ला–कटुवा कह कर चिढ़ाते थे, जिस कारण बुद्धू को अंततः अपनी पढ़ाई ही छोड़नी पड़ी।

इस प्रकार बचपन से ही सांप्रदायिकता का जहर नसों में चढ़ाया जा रहा है। इन बच्चों की बातें सुनकर इनके विकास की दिशा का अनुमान लगाया जा सकता है– "अरे कटुवा है न, इन लोगों के सारे काम उल्टे होते हैं, हम लोग सीधे ढंग से हाथ धोते हैं, ये लोग उल्टे ढँग से। हम लोगों के यहाँ सीधे तवे पर रोटी बनती है, इनके यहाँ उल्टे तवे पर। हम लोग बाल मुड़ाते हैं ये लोग नूनी कटाते हैं। सुना नहीं है? हिन्दुअन की फलान और मियन की दाढ़ी...।"[70]

ऐसी सोच रखने वाले अशोक पाण्डे वयस्क होने के बाद अगर सोमनाथ जैसा कोई मंदिर ढुँढते हैं, जिसका जीर्णोद्धार कर वे अपनी राजनीति चमका सकें, तो क्या आश्चर्य– "गाँव में स्थित एकमात्र मंदिर के खंडहर के बारे में उन्होंने बहुत जाँच–पड़ताल की, मगर हर तरह से यही साबित हुआ कि अपनी दुर्दशा का कारण मंदिर स्वयं है, न कि कोई

विधर्मी।"[71] ऐसी स्थिति में मंदिर के जीर्णोद्धार से कोई लाभ नहीं था, इसलिए अशोक पाण्डे ने यह विचार त्याग दिया।

इस प्रकार बचपन से बच्चों को ऐसी शिक्षा दी जा रही है, जिससे वे सांप्रदायिक बन रहे हैं। सांप्रदायिकता के पीछे के राजनीतिक कारणों को भी लेखक ने भली–भाँति रेखांकित किया है।

वस्तुतः 'मुखड़ा क्या देखे' में ग्रामीण भारतीय समाज की जिन समस्याओं की अभिव्यक्ति हुई है, उनमें से अधिकांश के मूल में गंदी और भ्रष्ट राजनीति है।

राजनीतिज्ञ अपने फायदे के लिए न सिर्फ लोगों को संप्रदाय एवं जाति के नाम पर बाँट रहे हैं, बल्कि इसी बहाने शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार जैसे जरूरी मुद्दों से उनका ध्यान भटकाने में भी कामयाब हो रहे हैं। पिछले पचास वर्षों में एक आम ग्रामीण गरीब से गरीबतर होता गया है, जबकि देश की सारी संपत्ति चंद लोगों के पास सिमट कर रह गयी है। जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा दोनों जून भोजन नहीं कर पाता और हमारे नेताओं के पैसे 'स्विस बैंक' में रखे जाते हैं।

देश इन समस्याओं से निज़ात के लिए युवा पीढ़ी की ओर देख रहा है, परंतु युवाओं में अधिकांशतः अशोक पाण्डे एवं रफी अहमद– जैसे ही हैं, जो स्वयं आगे बढ़ने के लिए गलत रास्तों का सहारा लेते हैं। लेखक ने अजय को भविष्य की आशा के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है, परंतु उपन्यास से अजय का जो चरित्र उभर कर सामने आता है, उससे निराशा ही होती है। यदि अजय जैसे कमजोर एवं अंधविश्वासी लोगों के हाथों में ही देश का भविष्य है, तो यह भविष्य सुखद नहीं दिखाई देता।

संदर्भ

1 मार्क्स एंगेल्सः साहित्य तथा कला, पृ.108

2 अब्दुल बिस्मिल्लाह, समर शेष है, पृ.66

3 अब्दुल बिस्मिल्लाह, मुखड़ा क्या देखे, पृ.11

4 वही, पृ.12

5 वही, पृ.10

6 वही, पृ.39

7 निरालाः राग विराग, पृ.137 (सं. रामविलास शर्मा)

8 मुखड़ा...., पृ.30

9 वही, पृ.18

10 वही, पृ.31

11 वही, पृ.40

12 वही, पृ.34

13 वही, पृ.16

14 वही, पृ.30

15 समर शेष है, पृ.124

16 मुखड़ा....., पृ.32

17 वही, पृ.45

18 वही, पृ.33

19 बिपन चंद्रः आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति, पृ.207

20 मुखड़ा क्या देखे, पृ.32

21 वही, पृ.105

22 वही, पृ.193

23 वही, पृ.118

24 वही, पृ.58

25 वही, पृ.87

26 वही, पृ.88

27 मिश्रा एवं पुरीः भारतीय अर्थव्यवस्था, पृ.171

28 बिपन चंद्र, आधुनिक भारत में..., पृ.208

29 मुखड़ा क्या..., पृ.230

30 वही, पृ.184

31 वही, पृ.233

[32] वही, पृ.83

[33] वही, पृ.196

[34] वही, पृ.239

[35] एन. के. सिंधी एवं वसुधाकर गोस्वामी, समाजशास्त्रः विवेचन, पृ.274

[36] भारत, 2001, पृ.83

[37] मुखड़ा क्या देखे, पृ.19

[38] वही, पृ.58

[39] वही, पृ.228

[40] वही, पृ.225

[41] वही, पृ.123

[42] राम आहूजाः सामाजिक समस्याएँ, पृ.265

[43] वही, पृ.262

[44] मुखड़ा..., पृ.186

[45] वही, पृ.177

[46] वही, पृ.232

[47] साक्षात्कारः परिशिष्ट, पृ.1

[48] मुखड़ा..., पृ.201

[49] वही, पृ.201

[50] राजकिशोर (सं.): अयोध्या और उससे आगे; पृ.50 (सत्येन्द्र रंजन का लेख)

[51] मुखड़ा, पृ.68

[52] वही, पृ.60

[53] वही, पृ.111

[54] वही, पृ.59

[55] वही,

[56] वही, पृ.29

[57] वही, पृ.34

[58] वही, पृ.143

[59] वही, पृ.213

[60] वही, पृ.63

[61] वही, पृ.141

[62] वही, पृ.109

[63] वही, पृ.62

[64] वही, पृ.58

[65] वही, पृ.77

[66] वही, पृ.157

[67] अब्दुल बिस्मिल्लाह, दंतकथा, पृ.21

[68] मुखड़ा..., पृ.144

[69] वही, पृ.23

[70] वही, पृ.122

[71] वही, पृ.224

अध्याय तीन

'मुखड़ा क्या देखे': उपलब्धि और सीमाएँ

अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने उपन्यासों 'समर शेष है', 'जहरबाद' और 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' में समाज के उन वर्गों के जीवन और उनकी समस्याओं को कथा का विषय बनाया है, जो सामाजिक संरचना में ही नहीं बल्कि साहित्य में भी हाशिए पर हैं। 'मुखड़ा क्या देखे' में एक बार फिर वे एक ऐसे ही परिवार को कथा के केन्द्र में ले आते हैं, जो सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से बिल्कुल हाशिए पर पड़ा है।

यह परिवार है अली अहमद चुड़िहार का। यह सिर्फ एक चुड़िहार परिवार की कहानी नहीं है, बल्कि इसी बहाने लेखक ने आज़ादी के बाद के तीस वर्षों में हुए हर महत्त्वपूर्ण बदलाव को रेखांकित करने की कोशिश की है। कहने की जरूरत नहीं कि बदलावों की दिशा प्रतिगामी ही ज्यादा रही है।

आज़ादी ने देशवासियों के मन में अनेक आशाओं का संचार किया था। अली जैसे लोग सोचते थे कि आज़ादी के साथ ही उनके सारे कष्टों का अंत हो जाएगा। उनके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य–सुविधाओं और आजीविका की व्यवस्था होगी। उनकी अपनी सरकार होगी, जो उनके हित के लिए काम करेगी। परंतु, यथार्थ की सख़्त जमीन से टकराकर शीघ्र ही ये सपने शीशे की मानिंद चूर हो गए।

अली और उसके जैसे अन्य लोगों को जल्द ही समझ में आ जाता है कि यह आज़ादी उनकी नहीं है। उनके लिए तो जैसे 'जॉन' वैसे 'गोबिन्द'। अली और मख़दूम जैसे लोगों को तो अब भी रामवृक्ष पाण्डे और जब्बार मौलवी जैसों के पाँवों तले ही रहना था।

'मुखड़ा क्या देखे' उस भारतीय समाज की कथा है, जहाँ सब रिवाज 'बड़मनइन' के बनाए हुए हैं। सरकार चाहे किसी भी दल की हो, गाँवों में इन्हीं का हुक्म चलता है। शेष बहुसंख्यक जनता को इन चंद लोगों की 'परजा' बनकर ही रहना पड़ता है।

जब्बार अली और रामवृक्ष पाण्डे जैसे लोग भोली–भाली निरीह जनता को जाति एवं धर्म के नाम पर लड़वाते हैं, ताकि उनकी सत्ता बरकरार रह सके।

लेखक स्पष्ट दिखलाता है कि धर्म के नाम पर लोगों को लड़वाने वाले ये लोग शोषण के मुद्दे पर स्वयं किस तरह एकमत हैं। 'भउजी' शब्द को हिंदू मानकर उसका बहिष्कार करने वाले जब्बार अली अंततः रामवृक्ष पाण्डे का साथ देते हैं, न कि अली अहमद का।

अली अहमद भले ही सोचता रहे कि हर मुसलमान दूसरे मुसलमान का बिरादर है, जब्बार अली और सत्तार ऐसा नहीं सोचते। उनकी नजर में अली अहमद एक

चुड़िहार है, जबकि वह 'तुर्क' हैं और एक 'चुड़िहार की औलाद' की बजाय पंडित रामवृक्ष पाण्डे का साथ उनके लिए ज्यादा लाभप्रद है।

भारत में इस्लाम ने हिंदू समाज की अच्छाइयों को चाहे न ग्रहण किया हो, जाति–प्रथा जैसी बुराइयाँ जरूर अपना ली। इस्लाम में जाति प्रथा के प्रसार को अन्य लेखकों ने भी रेखांकित किया है। 'आधा गाँव' (राही मासूम रज़ा) के वाजिद मियाँ तो एक जुलाहिन का सैदानी के सामने खड़े होकर बराबरी पर बात करना भी सहन नहीं कर सकते। अब्दुल बिस्मिल्लाह ईसाई समाज तक भी जाति–प्रथा का प्रसार दिखा कर धर्म–परिवर्तन की निरर्थकता को पूरी तरह उजागर करते हैं। 'नीची' जातियाँ अपनी दुरवस्था से तंग आकर धर्म–परिवर्तन कर लेती हैं, पर इससे उनकी स्थिति में कोई खास फर्क नहीं पड़ता। "वे पहले भी निम्न जाति के थे और अब भी। ऊँच–नीच का यह भेदभाव हर मजहब और मुल्क के हर हिस्से में मौजूद है।"[1] 'नीची' जातियाँ नीची ही हैं चाहे उनका नाम अली हो, अंतोनी हो या रामदेव हो।

उनके छू देने भर से वस्तुएँ अपवित्र हो जाती हैं तो भोजन या वैवाहिक संबंधों की बात करना भी बेमानी है। अली जैसे लोग तो किसी के लोटे से स्वयं पानी भी नहीं पी सकते– " 'पी लेबा कि पियायीं?' दुकानदारिन ने पूछा तो अली अहमद समझ गया। इस सवाल में जाति–धर्म का रहस्य छिपा होता था। जो लोटा छूने लायक होते थे, वही लोग खुद से पानी पीते थे।"[2]

रामवृक्ष पाण्डे भी जब्बार मौलवी को अपने घर के बर्तन में चाय नहीं पिलाते, बल्कि उनके तथा उनके जैसे अन्य मुसलमानों के लिए काँच के बर्तन मँगाकर रखते हैं। इसके बावजूद दोनों एक दूसरे के हितचिंतक हैं। यह संबंध 'आधा गाँव' के फुन्नन मियाँ और कुँवरपाल सिंह की तरह निस्वार्थ मित्रता का नहीं है, बल्कि स्वार्थों पर आधारित एक समझौता है। मौलवी साहब इस भय से अली के विरूद्ध पाण्डे जी का साथ देते हैं कि कल को कहीं उन्हें भी इन धुनियों–चुड़िहारों का विरोध न झेलना पड़े। इसलिए वे वक्त रहते इस प्रतिकार के प्रयास को दबाने के उद्देश्य से पंडित जी के यहाँ अली की शिकायत लेकर पहुँचते हैं।

स्पष्टतया यहाँ लेखक की दृष्टि में सांपद्रायिकता से बड़ी समस्या शोषण की है। शोषकों को इस बात से कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि उनके द्वारा शोषित होने वाला व्यक्ति किस जाति या धर्म का है। 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' में तो गरीब बुनकरों का शोषण करने वाले 'गिरस्ते' उनके ही अंसारी समुदाय के हैं, परंतु आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली

होने के कारण हाजी अमीरूल्ला जैसे लोग गरीब बुनकरों को आसानी से अपने शोषण के जाल में फँसाने में कामयाब हो जाते हैं।

इस संदर्भ में अब्दुल बिस्मिल्लाह की ही एक कहानी 'फौलाद बनता हुआ आदमी' का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा, जहाँ दुर्गाचरण जी दलित विधायक हैं। विधायक बनते ही दुर्गाचरण का दृष्टिकोण भी बदल जाता है और वे उन्हीं उच्च वर्गीय सामंतों की तरह व्यवहार करने लगते हैं, जिनकी आलोचना करते नहीं थकते थे। लाइसेंस और परमिट बाँटकर रूपये कमाते हैं और अपने नौकर दुलारे को बँधुआ मजदूर की तरह रखते हैं।

अपनी कहानियों और उपन्यासों में बिस्मिल्लाह ने बार–बार दिखाया है कि जाति या धर्म की समानता शोषण में कभी भी बाधा नहीं बनती। शोषक चाहे किसी भी जाति या धर्म के क्यों न हों, शोषण में एक–दूसरे का सहयोग करते हैं, अन्य मुद्दों पर वे भले ही एक–दूसरे के कट्टर विरोधी हों।

लेखक के अनुसार, शोषक वर्ग शोषण के मुद्दे पर जहाँ बिल्कुल एकमत है, वहीं शोषित एक–दूसरे से लड़ने में ही अपनी शक्ति व्यर्थ कर रहे हैं। वस्तुतः यह शोषक वर्ग ही है, जो गरीब एवं निरीह जनता को जाति एवं धर्म के नाम पर लड़ाता है, ताकि अपना उल्लू सीधा कर सके। लेखक के ही उपन्यास 'दंतकथा' में मुर्गे का कथन द्रष्टव्य है– "इन मनुष्यों ने मुर्गों में भी तो लड़ाई करवा रखी है। मुर्गे लड़ाना इनके शौक और मनोरंजन में शामिल हैं। मगर मुझे लगता है कि इसमें एक बड़ी साजिश भी है; कि हम इनसे लड़ने की बात सोच भी न सकें।"[3] मुर्गा यहाँ शोषित वर्ग का ही प्रतिनिधि है। 'मुखड़ा क्या देखे' में जब्बार मौलवी का पढ़ा–लिखा पुत्र सत्तार भोले–भाले ग्रामीण मुसलमानों को सत्यनारायण पूजा की पंजीरी लेने से यह कहकर मना करता है कि हिंदू उसमें गाय का पेशाब मिलाते हैं। इसी प्रकार सृष्टिनारायण पासियों को भड़काकर अली को पिटवा देते हैं।

सांप्रदायिकता पर लिखने वाले लगभग हर उपन्यासकार ने दिखलाया है कि भोले–भाले अशिक्षित ग्रामीणों में चंद राजनीतिबाज और पढ़े–लिखे लोग ही सांप्रदायिकता का जहर भरते हैं। 'मुखड़ा क्या देखे' के सृष्टिनारायण और सत्तार ऐसे ही शख़्स हैं। लेखक के अनुसार, समाज में भ्रष्टाचार फैलाने में भी सबसे अधिक योगदान इसी शिक्षित वर्ग का है। सत्तार साहब पढ़–लिख कर पोस्ट मास्टर बन जाते हैं और सीधे–सादे ग्रामीणों द्वारा अपना पेट काटकर बचत–खातों में जमा किए गए रूपयों का गबन करते हैं, तो रमाशंकर पाण्डे एवं अशोक पाण्डे जैसे शिक्षक– जिन पर

समाज को शिक्षित करने की जिम्मेदारी है– जाली प्रमाणपत्रों के सहारे वेतन प्राप्त करते हैं।

'मुखड़ा क्या देखे' में लेखक ने भ्रष्टाचार के विभिन्न रूपों को उजागर किया है। रिश्वतखोरी, शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, सरकारी पैसों का गबन, दलितों को आवंटित जमीन की बिक्री, छठी कक्षा तक पढ़े रफी अहमद की डॉक्टरी आदि कई प्रसंग हैं, जिनके माध्यम से लेखक ने समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार को प्रत्यक्ष किया है।

'मुखड़ा क्या देखे' में इस भ्रष्ट समाज की जो तस्वीर उभर कर आती है, वह काफी हद तक श्रीलाल शुक्ल के 'रागदरबारी' से मिलती है। अशोक पाण्डे जैसे शिक्षक अयोग्यता में किसी भी तरह शिवपालगंज के मास्टर मोतीराम, खन्ना या मालवीय से पीछे नहीं हैं। 'मुखड़ा क्या देखे' के सत्तार अली डाकघर के पैसों का गबन करते हैं तो 'रागदरबारी' में कोऑपरेटिव का गेहूँ ही गायब हो जाता है।

'रागदरबारी' और 'मुखड़ा क्या देखे' दोनों उपन्यास आज़ादी के बाद के उस भारतीय गाँव की तस्वीर प्रस्तुत करते हैं, जो सांप्रदायिकता, जातिवाद और अभावों से जकड़ा हुआ उन सपनों को झुठला रहा है जो लोगों ने आज़ादी मिलने पर देखे थे। दोनों उपन्यासों की स्थितियों में तो पर्याप्त समानता है, परंतु दोनों लेखकों के दृष्टिकोण की भिन्नता इन उपन्यासों को बिल्कुल अलग धरातल पर स्थापित करती है।

'रागदरबारी' में श्रीलाल शुक्ल की सीमा यह रही है कि शोषक और शोषित– दोनों एक साथ उनके व्यंग्य का शिकार हुए हैं। उनके लेखन का अंदाज़ ऐसा है कि गाँव के किसी भी पात्र के प्रति पाठक के मन में कोई सहानुभूति नहीं उभर पाती। यह गाँव को बाहरी व्यक्ति की नज़र से देखने का परिणाम है कि लेखक को गाँव के किसान एक–दूसरे का खेत हड़पने की कोशिश करते ही नजर आते हैं। ये किसान अपने जानवरों को दूसरे के खेतों में चराते हैं, दूसरे की फसल चोरी करते हैं और शोर मचाते हैं कि उनकी अपनी फसल चोरी हुई है। कुल मिलाकर, 'रागदरबारी' से एक ग्रामीण की यही छवि उभरकर सामने आती है। निस्संदेह श्रीलाल शुक्ल को भारतीय गाँवों की अच्छी जानकारी है और उन्होंने ग्रामीण जीवन का सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया है, परंतु उनकी दृष्टि एक बाहरी व्यक्ति की है, जिसे इस जीवन से कोई सहानुभूति नहीं है।

'रागदरबारी' द्वारा प्रस्तुत किसान की छवि को 'गोदान' (प्रेमचंद) के 'होरी' के बरअक्स रख कर देखे तो बात स्पष्ट हो जाएगी। होरी चंद रूपयों के बाँस के लिए अपने भाई को धोखा देने का प्रयास करता है। भोला को झांसा देकर गाय प्राप्त करता

है, परंतु इन घटनाओं के बावजूद पाठक के मन में कहीं भी होरी के प्रति वितृष्णा नहीं उभरने पाती। होरी अंततः शोषण के जाल में फड़फड़ाते एवं टूट कर बिखरते एक निरीह किसान के रूप में ही सामने आता है। यहाँ लेखक की दृष्टि एक 'इनसाइडर' की दृष्टि है, जो महज़ ऊपरी स्थितियों के चित्रण की बजाय उनकी आंतरिक विसंगतियों को उजागर करने का प्रयास करती है।

'मुखड़ा क्या देखे' भी इसी 'इनसाइडर' की दृष्टि से रचा गया उपन्यास है। यही कारण है कि छठी कक्षा तक पढ़े बुद्धू के डॉक्टर बन जाने के बावजूद उसके प्रति वितृष्णा नहीं होती, न ही उन गाँव वालों पर क्रोध आता है, जो पाँच–दस रूपये रिश्वत देकर चोरी की बिजली का इस्तेमाल करते हैं। क्रोध आता है उस व्यवस्था पर जो इन ग्रामीणों को भ्रष्टाचार की ओर धकेलती है। यहाँ गाँव को एक ग्रामीण की नज़र से देखा गया है। अब्दुल बिस्मिल्लाह की यह विशेषता श्रीलाल शुक्ल के यहाँ नदारद है।

हिन्दी के ग्राम–केंद्रित उपन्यासों पर नजर डालने से गाँव की एक विडंबना उभर कर सामने आती है– यह है उन युवकों का पलायन, जिनमें गाँव का चेहरा बदल सकने की संभावना नज़र आती है। अभाव, बेकारी, अलाभकर खेती ने गाँव की जनता को गाँव से उखड़ने के लिए मजबूर कर दिया है। आज के गाँव का जायका बहुत कड़वा है। परंपरागत रागात्मकता टूटती दिखाई पड़ रही है। गाँव की जनता के समक्ष दो ही विकल्प नज़र आते हैं– दैन्य या पलायन। गाँव में जो भी संभावना वाला व्यक्ति है– चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित– शहर की ओर भाग रहा है।

'गोदान' के गोबर, 'धरती धन न अपना' (जगदीश चंद्र) के कालीचरण, 'अलग–अलग वैतरणी' (शिव प्रसाद सिंह) के विपिन जैसे न जाने कितने युवक हैं, जो स्थितियों से असंतुष्ट होकर गाँव से पलायन करते हैं। 'मैला आँचल' (फणीश्वरनाथ रेणु) के प्रशांत जैसे युवक ग्राम सुधार का जज्बा लेकर गाँव आते हैं, परंतु अंततः गाँव छोड़ जाते हैं।

अब्दुल बिस्मिल्लाह अपने आशावादी दृष्टिकोण के कारण उपरोक्त लेखकों से अलग दिखाई देते हैं। गाँव की तमाम समस्याओं के बावजूद भविष्य के प्रति उनका विश्वास बरकरार है। बलापुर का अजय गाँव छोड़कर जाने की नहीं सोचता, क्योंकि उसे विश्वास है कि गाँव में अभी सब कुछ नहीं टूटा। कुछ है जो 'अभी साबूत है'। यह आशावाद 'मुखड़ा क्या देखे' की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

आज़ादी से 'इमरजेंसी' तक गाँव को अनेक समस्याओं से जूझना पड़ा है। गरीबी में निरंतर होती वृद्धि, सांप्रदायिकता और जातिवाद का प्रसार, परंपरागत पेशों की टूटन,

भ्रष्टाचार आदि कई समस्याएँ हैं, जिन्होंने गाँव के जीवन को प्रभावित किया है, परंतु इन तमाम समस्याओं के बीच कुछ साबुत होने के प्रति अजय का विश्वास अलग चमक रहा है, जो उपन्यास को एक विशिष्ट पहचान देता है। लेखक ने स्वतंत्रता के पश्चात् 'इमरजेंसी' तक की देश की हर महत्त्वपूर्ण घटना से कथा को जोड़ने की कोशिश की है। स्वयं लेखक के शब्दों में, "स्वतंत्रता के बाद से लेकर अब तक हमारे अपने समाज में क्या–क्या बदला, कौन–कौन से नये रूप प्रकट हुए, पहले का क्या अब नहीं रहा, यह सब कैसे पता चले? मैंने खुद जिन चीजों को देखा है, वे अब नहीं दिखाई पड़तीं। हमारे जीवन की सांस्कृतिक पहचान के कई चिह्न या तो मिट गए हैं या धूमिल हो गए । बातचीत में से मुहावरे गायब होते चले गए। यथार्थ की इन स्थितियों ने बहुत बेचैन किया और समय के उस दौर को मैंने 'मुखड़ा क्या देखे' में सहेजने की कोशिश की।"[4]

'समय के उस दौर' को सहेजने की कोशिश में लेखक ने समाज में हुए हर परिवर्तन को रेखांकित किया है।

गाँव में 'छापक पेड़ छिउलिया कि पतबन गहबर हो...' जैसे गीतों की जगह 'बहारों फूल बरसाओ...' जैसे फिल्मी गीतों ने ले ली है। साइकिलों की जगह मोटरसाइकिल आ गए हैं। गाँव में जिन रोगों का इलाज़ हींग, कपूर, हल्दी, मुसब्बर जैसी घरेलू चीज़ों से होता था, उनके लिए भी टैब्लेट्स और कैप्सूल्स आ गए हैं। खपरैलों की जगह पक्के तन रहे हैं, पानी के नल लग गए हैं, बिजली आ गयी है। लेखक इन सब परिवर्तनों को पूरी आत्मीयता के साथ चित्रित करता है।

गाँवों के जीवन में सबसे अधिक बदलाव आया– सड़कों के निर्माण से। गाँव अब शहरों से सीधे जुड़ गए और शहर गाँव की ड्योढ़ी पर दस्तक देने लगाः "विकास हो रहा था। उन्नति हो रही थी। गाँव में गाँव की व्यवस्था समाप्त हो रही थी। उसकी जगह एक नयी व्यवस्था आ रही थी, जो न तो शहरो थी, न कस्बाई। उसका रूप, उसका नाम, उसकी संज्ञा– सबकुछ अनिश्चित और अपरिचित...।"[5]

गाँव में शहर का यह संक्रमण कुछ लोगों को भला लग रहा था, तो कुछ लोग इससे आशंकित भी थे।

शहर से गाँव के जुड़ाव ने उसे विकास–पथ पर तो डाला, लेकिन विकास की किरणों के साथ कुछ 'शहरी बुराइयाँ' भी गाँव में दाखिल हुईं। गाँव में होने वाले इन सकारात्मक और नकारात्मक परिवर्तनों को लेखक किसी बाहरी व्यक्ति की तरह न देखकर गाँव के ही एक व्यक्ति की तरह देखता है। एक ऐसे ग्रामीण की तरह जो नयी

चीजों को आश्चर्य एवं पुलक के साथ तो देखता है, परंतु उसकी नज़रों में एक आशंका भी रहती है।

पतरस द्वारा 'आने–पैसों' के बंद होने की सूचना पाकर अली अहमद भी चकित और आशंकित होता है। अली अहमद ने आना–पैसा–पाई के साथ–साथ पौंड–पेंस–शिलिंग का हिसाब भी कंठस्थ कर रखा था, जिस कारण उसे अपनी दुकान के लिए सौदा लेने में आसानी होती थी। पतरस द्वारा इस व्यवस्था के समाप्त होने की सूचना पर उसके आशंकित होने का यही कारण था।

अली अहमद जब बलापुर छोड़कर गया था, तो वहाँ न कोई स्कूल था और न मदरसा। अब जब वह वापस तो वहाँ लड़कियों के लिए भी एक पाठशाला खुल चुकी थी। अली अहमद के ब्याह के समय गाँव की अनेक औरतों ने मिलकर कई रातों में गेहूँ पीसा था, परंतु अब पड़ोस में ही गेहूँ पीसने की चक्की लग गयी थी। गाँव में अब 'पोस्ट ऑफिस' भी खुल गया था। ये सभी परिवर्तन अली अहमद को बार–बार चौंका रहे थे।

इन स्थूल परिवर्तनों के साथ–साथ गाँव के लोगों का मानस भी परिवर्तत हो रहा था। गाँव के सामूहिक जीवन को उपभोक्तावादी संस्कृति ने बुरी तरह प्रभावित किया था। अब हर चीज़ पैसे के तराजू पर तोली जा रही थी।

गाँव का कोई व्यक्ति पहले किसी के खेत से दो मुट्ठी चने का साग खोंट कर खा सकता था, गन्ने उखाड़ सकता था, परंतु अब ज़माना बदल गया था। रनिया को ज़माने के इस बदलाव का पता तब चला जब वह चने का साग खाने के लालच में एक खेत में घुस गई, परंतु एक युवक के टोकने के कारण उसे तुरंत उठ जाना पड़ा– "चने का साग, ऊख, मटर की फलियों और तमाम फसली चीज़ों पर तो गाँव में सबका अधिकार होता था; यह टोंका–टाकी कब से चल पड़ी? ज़माना क्या इतना बदल गया है?"[6]

ज़माना सचमुच बदल गया था, तभी तो पानी माँगने पर फतेहमुहम्मद की बीवी ने रनिया के सामने लोटे में सिर्फ पानी लाकर रख दिया। पहले पानी के साथ 'पिठूरा न सही, गुड़ की भेली ज़रूर' होती थी। इस तरह तरक़्क़ी की राह पर दौड़ता गाँव अपना बहुत कुछ पीछे छोड़ता चला जा रहा था।

गाँव का वह साझापन, जो पूरे गाँव को एक साथ जोड़े रखता था– अब धीरे–धीरे समाप्त हो रहा था। पड़ोस के घर में क्या हो रहा है, इससे लोगों को कोई मतलब नहीं रह गया था। सभी अपने में मस्त और व्यस्त थे। गाँव की एक लड़की गाँव

के स्कूल में अध्यापिका बन कर आई, परंतु अब गाँव वालों के लिए ऐसी खबरें महत्त्वहीन हो चुकी थीं। अली जैसे पुराने ख्यालात वाले लोग समझ नहीं पा रहे थे कि ये परिवर्तन गाँव के हक़ में है या उसके ख़िलाफ– "मगर इस गाँव को हो क्या गया है? अल्ली चिंतित हो गया। अपने गाँव में, अपनी ही एक लड़की पढ़ाने आ रही है और गाँव को कोई खबर नहीं'"[7]

वस्तुतः "लता बलापुर में अध्यापिका होकर आई है, यह खबर पूरे गाँव को थी। लेकिन गाँव अब इतनी तरक़्क़ी कर चुका था कि इस तरह की खबरों का कोई महत्त्व नहीं रह गया था।"[8]

संक्रमण के इस दौर में गाँव का बहुत कुछ टूट रहा है, बदल रहा है; परंतु अब भी बहुत कुछ बाकी बचा है, जो भविष्य के प्रति आशान्वित करता है।

फतेहमुहम्मद के घर की स्त्रियाँ भले ही रनिया की जगह मनिहारिन से चूड़ियाँ पहनें, 'उपधिया बाबा' की स्त्री तो मनिहारिन को डपट कर भगा ही देती– " 'देख री मनिहारिन, उपधिया बाबा की स्त्री ने कहना शुरू किया, 'अब इस गाँव में अपनी सकल न दिखाना, समझी। तेरी मजाल कैसे हुई जो हमारी चूड़िहाइन को हाथ लगाया? जा, अपना टोकरा उठा अउर भाग इहाँ से। छिनार कहीं की...।"[9]

उपधिया बाबा के यहाँ रनिया को पानी के साथ गुड़ ही नहीं, यह विश्वास भी मिलता है कि 'अभी इंसानियत बाकी है। सब कुछ नहीं बदला है।'[10]

उपधिया बाबा की स्त्री और रनिया का यह संबंध जाति और धर्म से बढ़कर है। यह सामूहिक संबंधों द्वारा जुड़े ग्रामीण–जीवन की सच्चाई है, जिसके अनुसार रनिया उस घर की चुड़िहाइन है और उसकी जगह कोई नहीं ले सकता।

इन्हीं संबंधों का उदाहरण उस ब्राह्मण सास का व्यवहार भी है, जो अपनी चुड़िहाइन के हाथ से चूड़ियाँ पहनवाने के लिए बहु के मायके की चूड़ियाँ उतरवा देती है।

बलापुर के दयाशंकर पाण्डे अली की भतीजी की शादी में बिन बुलाए न्योता देने पहुँचते हैं, क्योंकि, "बिटिया का ब्याह है, कन्यादान तो करना ही होगा। बेटा, सिरिफ अपने बाप का होता है, मगर बिटिया तो पूरे गाँव की होती है न!..."[11]

दयाशंकर पाण्डे का अली के यहाँ न्यौता देने जाना, लेखक के अनुसार, "ग्रामीण–जीवन का एक ऐसा सत्य है, जो किसी भी राजनीति से ऊपर है। वह एक

बहुत ही मानवीय पक्ष है। ... विवाह में जाने का प्रसंग भारतीय मानस की उस संरचना को द्योतित करता है, जो आज नहीं रह गयी है।"[12]

ग्रामीण जीवन की साँझी–संस्कृति के ऐसे अनेक सच हैं, जो लुप्त हो चुके हैं या लुप्त हो रहे हैं। अब्दुल बिस्मिल्लाह ने 'मुखड़ा क्या देखे' में लुप्त हो रही इस साँझी संस्कृति के अनेक दृश्य सँजोए हैं।

वस्तुतः हजार से अधिक वर्षों के संश्लेष ने भारत में हिंदू और मुस्लिम दोनों को अत्यधिक प्रभावित किया है। रीति–रिवाज, संगीत, पोशाक, खान–पान, पारिवारिक जीवन की छोटी–छोटी बातों, यहाँ तक कि दोनों के धार्मिक क्रियाकलापों पर भी एक–दूसरे का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

भाई की मृत्यु के बावजूद रनिया दीवाली की रात अपनी चूड़ियोंवाली भौंकी के पास दिया जलाती है, क्योंकि, "लच्छमी खुस तो जहान खुस। इतना तो करना ही होगा। फिर जमजुतिया का मेला भी तो है। लच्छमी खुस रहेंगी तो मेला ठीक–ठाक हो जाएगा।"[13]

लक्ष्मी हिंदुओं की देवी सही, परंतु उन्हें खुश करने की चेष्टा मुस्लिम रनिया भी करती है, ताकि उसका कारोबार ठीक से जम सके। गाँव की रामलीला के लिए शिव–धनुष का निर्माण मुस्लिम सिपाही नाऊ का परिवार करता है, वह भी मुफ्त। क्योंकि सिपाही नाऊ का मानना है कि "धरम के काम में पइसा लेना सत्तर गुनाह के बरोबर है।"[14]

सिपाही नाऊ और रनिया के लिए धर्म हिंदू या मुस्लिम नहीं है, वह बस 'धर्म' है। ये अनपढ़ ग्रामीण ही हैं, जो अभी भी साँझी संस्कृति की विरासत को सँभाले हुए हैं। आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार, "पंडितों की पाठशाला और विद्वानों की गोष्ठी में तथा तीर्थों में यह उदार भाव नहीं मिलेगा। यदि उसे देखना है तो अनपढ़ ग्रामीणों के खेतों और चौपालों में ढूँढिए।"[15]

जाति–धर्म और धन की भिन्नता को दरकिनार कर ये ग्रामीण एक–दूसरे के दुःख से दुखी और एक–दूसरे के सुख में प्रसन्न होते हैं।

यही वह भावना है, जिसके कारण जब्बार मौलवी की मृत्यु होने पर रामलीला वालों का हारमोनियम खामोश हो जाता है और अपनी पिटाई करने वाले रामवृक्ष पाण्डे की मृत्यु की सूचना अली अहमद को विषादग्रस्त कर देती है: "पं. रामवृक्ष पाण्डे के बारे में वह कुछ सुनना तो चाह रहा था, मगर यह नहीं कि वे मर गए। वह उनसे नाराज

था पर इतना नहीं कि उनकी मृत्यु से वह खुश होता। आखिर एक लंबे समय तक वह उनकी 'परजा' रहा था। वे उसके भी तो 'बबा' थे।"[16]

अली अहमद की भतीजी की शादी में दूल्हे द्वारा सास का आँचल पकड़कर नेग में गाय की माँग करना भी साँझी–संस्कृति का ही उदाहरण है।

लेखक जहाँ साँझी–संस्कृति के अनेक चित्र प्रस्तुत करता है, वहीं कुछ लोगों द्वारा इस पर सांप्रदायिकता के रंग चढ़ाने की कोशिशों को भी अनदेखा नहीं करता। गाँव–समाज में सत्तार और सृष्टिनारायण जैसे लोगों की कमी नहीं है, जो भोले–भाले लोगों को अपने दुष्प्रचार से सांप्रदायिक बनाने का कार्य कर रहे हैं। सृष्टिनारायण पाण्डे के यहाँ कथा समाप्ति के समय सत्तार अन्य मुसलमानों से फुसफुसाकर कहता है– "सुनो, पंजीरी ले तो लेना, पर उसे खाना हर्गिज नहीं। ... जानते नहीं क्या, पंजीरी में ये लोग चरनामृत भी डालते हैं। और चरनामृत में क्या होता है जानते हो? उसमें गाय का पेशाब मिला होता है।"[17]

उपन्यासकार जहाँ धर्म एवं जाति के नाम पर लोगों को बाँटने वालों की मंशा एवं उनके हथकंडों को उद्घाटित करता है, वहीं तथाकथित नीची जातियों के एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरने को रेखांकित करने से भी नहीं चूकता, "यह जमाना बाम्हनों–ठाकुरों का नही, अहिरों–गड़रियों का है।..."[18]

देश की राजनीतिक परिस्थितियों में होने वाले हर महत्त्वपूर्ण बदलाव और उन पर होने वाली ग्रामीण प्रतिक्रियाओं को लेखक ने कथा के साथ विन्यस्त किया है। बैंकों के राष्ट्रीयकरण एवं राजाओं के प्रिवीपर्स के मामले पर वित्तमंत्री मोरारजी देसाई ने इंदिरा मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया। इस पर दयाशंकर की टिप्पणी द्रष्टव्य है, "भला बताओ, जो काम जवाहरलाल जी नहीं कर सके, वो इंद्राजी ने कर दिखाया। राजाओं का प्रिवीपर्स छीन लेना क्या कोई मामूली बात है? यह क्या कि रियासतें तो कब की खत्म हो चुकीं और आप हैं कि अभी तक राजा बने घूम रहे हैं, सरकार से वजीफा ले रहे हैं। और बैंकों का राष्ट्रीयकरण? इससे तो देश को फायदा ही होगा न! मगर इस मुरारजीवा को का कहें।"[19]

ग्रामीणों की ये सीधी–सादी टिप्पणियाँ कहीं–कहीं गंभीर सवाल उठाती हैं... "ई पच्छिमी पाकिस्तान वाले भी मुसलमान अउर ई पूरबी पाकिस्तान वाले भी मुसलमान। जैसे जनरल यहिया खान वैसे सेख मुजीबुर्रहमान। फिर ई झगड़ा काहे हो रहा है? अउर अगर झगड़े होना रहा तो ई बुजरी के पाकिस्तान काहे बना था हो?"[20]

धर्म के आधार पर विभाजन की निरर्थकता पर अनेक रचनाकारों ने विचार किया है और इस पर कई सफहात खर्च किए हैं, परंतु यहाँ एक छोटे से सवाल द्वारा इस निरर्थकता का उद्‌घाटन लेखक के सामर्थ्य का सूचक है।

बड़ी–बड़ी बातों और जटिल संकल्पनाओं का सहारा लिए बगैर सरल शब्दों में हर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन को रेखांकित करना लेखक की बड़ी सफलता है। बाजारवाद के विकास के साथ मुद्राओं के महत्त्व में वृद्धि पर लेखक की टिप्पणी द्रष्टव्य है– "बदलते हुए देश के बदलते हुए समाज में जिस प्रकार बाजार और दुकानों का महत्त्व बढ़ता जा रहा था, उसमें सिक्कों के रूप में पूँजी का होना बहुत ज़रूरी था।"[21] अली अहमद से सामान लेने वाले ग्रामीण बदले में अनाज दिया करते थे, परंतु थोक व्यापारी नकद पैसों की माँग करता था। सिक्कों के रूप में पूँजी के न होने के कारण ही अली का रोज़गार धीरे–धीरे डूबता जा रहा था। वस्तुतः गाँव में भी धीरे–धीरे मौद्रिक संस्कृति का प्रसार होता जा रहा था। गाँव का ही दुकानदार पतरस अनाज के बदले सौदा लेने वालों को हतोत्साहित करता था और पैसा लेकर ही सामान देता था। इसी प्रकार रनिया को भी चूड़ी पहनाने के एवज़ में अनाज की बजाय पैसे ही मिलते है, "एक ज़माना था जब उसकी भौंकी में दाल, चावल, गुड़ और न जाने क्या–क्या चीज़ें भरी होती थीं। मगर अब सिर्फ पैसे मिलते हैं। अनाज कोई नहीं देता। कहते हैं, हमीं को पूरा नहीं पड़ता तो दूसरों को कहाँ से दें?"[22]

'जजमानी व्यवस्था' के अंतर्गत गाँव के मजदूरों, कारीगरों आदि को उनकी सेवाओं के बदले अनाज दिया जाता था, परंतु अब वे भी अनाज पर काम करने को तैयार नहीं थे, बल्कि पैसों पर काम करने के लिए कहते थे।

इस प्रकार सामंती व्यवस्था के क्षीण होने के साथ–साथ पूँजी पर आधारित एक नई व्यवस्था गाँवों में आकार ले रही थी। यह परिवर्तन सिर्फ आर्थिक ही नहीं था, बल्कि यह ग्रामीण–मानस की समूची संरचना को प्रभावित कर रहा था। लेखक अपनी सतर्क निगाहों से इस परिवर्तन के हर पक्ष का जायजा लेता है।

वस्तुतः "आज़ादी के बाद से आपातकाल तक का कालखंड समेटे इस उपन्यास में गाँव के बदलाव के संकेत जिस समाजशास्त्रीय प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किए गए हैं, वह परिपक्व औपन्यासिक दृष्टि के बिना संभव नहीं है। सामंती ग्राम–संबंधों की तार–तार होती बुनावट, परंपरागत पेशों की टूटन, जाति व्यवस्था की जकड़न, सांप्रदायिकता की अंर्तधारा, समाज के निम्न वर्गों में जनतांत्रिक चेतना का उभार,

सामाजिक न्याय की अनुगूँज एवं गाँव के मुहाने पर बाजार की दस्तक का अत्यंत सहज चित्रण इस उपन्यास में किया गया है।"[23]

गाँव के जीवन में लोकगीतों, नाच, नौटंकी, उत्सव, मेलों आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गाँव वाले अपनी तमाम परेशानियों के बीच नाचने, गाने और मस्ती में झूमने का मौका निकाल ही लेते हैं, फिर चाहे वह 'जमजुतिया' (यम द्वितीया) का मेला हो या मज़ार पर लगने वाला उर्स।

अब्दुल बिस्मिल्लाह ने 'जहरबाद' और 'समर शेष है' जैसे अपने उपन्यासों में ग्राम्य–संस्कृति के इस पक्ष को भली–भाँति दिखाया है। 'मुखड़ा क्या देखे' में भी जगह–जगह नगाड़ों की आवाज के साथ दोहे–चौबोलों और बह्रे तवील की गूंज है। इनके बीच में कभी–कभी पूरबी की तान भी सुनाई देती है:

"ताना मारैं सासु ननदिया

हम बउरहिया भइली ना।"[24]

ग्रामीणों में नाच का आकर्षण इतना जबर्दस्त है कि नाच देखने के लिए दूर के गाँवों तक भी पहुँच जाते हैं। "जैसे धान और गेहूँ की फसल के लिए गाँवों में ऋतुएँ निश्चित थीं, उसी प्रकार नाच का भी अपना मौसम होता था। दसहरा बीतने के साथ ही यह मौसम शुरू हो जाता था। रोज सुनाई पड़ता है कि आज हथिगन में नाच है, कल करमा में। इतवार को उभारी में, मंगल को करछना में...।... रात चाहे पूर्णिमा की हो चाहे अमावस की, लोग साइकिलों की पैडलें घुमाते, या फिर पाँव पैदल ही नाच देखने के लिए चल पड़ते। नाच के कई शौकीन तो ऐसे भी थे कि नगड़ची की आवाज सुनकर ही बिस्तर छोड़ देते थे और जिधर से किर्र–किर्र की ध्वनि आ रही होती उसी दिशा में बगैर सोचे–समझे ही चल पड़ते थे।"[25]

नाच–नौटंकी के साथ–साथ लोकगीतों की भी बहार है–

"मोर धानी चुनरिया इतर गमके

मोर बारी उमरिया नइहर तरसे"[26]

या

"नजर लागी राजा तोरे बंगले पर

.....

जो मैं होती राजा बन कई कोयलिया।

कुहुक रहती राजा...."[27]

हाल के वर्षों में 'अनुभूति की प्रामाणिकता' का सवाल उठाकर मुस्लिम लेखन, दलित लेखन जैसे वर्गीकरणों पर जोर दिया जा रहा है। यह कहा जा रहा है कि दलित या मुस्लिम जीवन पर प्रामाणिकता के साथ लिखने के लिए लेखक का दलित या मुस्लिम होना जरूरी है। परंतु, अब्दुल बिस्मिल्लाह ऐसे वर्गीकरण को पूरी तरह नकारते हुए स्वयं को 'भारतीय लेखक' कहना पसंद करते हैं। उनका लेखन उनके इस दावे को पुष्ट करता है। 'मुखड़ा क्या देखे' में उन्होंने जिस प्रामाणिकता के साथ हिन्दू और मुस्लिम रीति–रिवाजों के साथ–साथ ईसाई समुदाय के रीति–रिवाजों का चित्रण किया है, वह आश्चर्यचकित कर देने वाला है। उपनिषदों और बाइबिल के उद्धरण और उनकी व्याख्या लेखक के विस्तृत ज्ञान को प्रकट करती हैं।

रनिया के प्रसव का लेखक द्वारा किया गया वर्णन तो 'भोगे हुए यथार्थ' जैसे नारों पर ही प्रश्न चिह्न खड़ा करता है– "सत्तार की अम्माँ और अल्ली की भउजी ने पीछे बैठकर उसे पकड़ लिया। फिर न जाने क्या चमत्कार किया फुल्ली दाई ने कि क्षण–भर में ही खून और पानी का एक मिला–जुला रेला भल्ल–भल्ल बहने लगा।

'जोर लगाव। हाँ अउर जोर से।'

फुल्ली दाई ने रनिया को जोश दिलाया तो वह जोर–जोर से काँखने लगी।अल्ली कान लगाकर सुनने लगा। औरत कितनी मेहनत करती है। पेट भरने के लिए भी और पेट से अपना लाल जनने के लिए भी... उसने सोचा।"[28]

ऐसे दृश्य हिन्दी उपन्यास में दुर्लभ ही हैं– नारी अनुभूति का ढोल पीटने वाली लेखिकाओं के यहाँ भी।

'मुखड़ा क्या देखे' की एक उल्लेखनीय विशेषता है मुहावरों और लोकोक्तियों का सहज प्रयोग, जो कथानक को विश्वसनीयता प्रदान करता है। 'जब राजा नल पर बिपत परी, तब भूँजी मछली जल में गिरी', 'जाके अँगना बहे नदी, सो क्यों मरे पियास', 'जहाँ पेड़ न रूख, वहाँ रेंडे महापुरूख' जैसी कहावतें ग्रामीण भाषा की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति को प्रकट करती हैं।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के 'मुखड़ा क्या देखे' की तुलना अक्सर उनके पूर्ववर्ती उपन्यास 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' से की जाती है और 'मुखड़ा क्या देखे' को उसके समक्ष कमजोर ठहराया जाता है। 'मुखड़ा क्या देखे' एक लम्बे कालखण्ड को समेटता है। इसका कलेवर भी 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' की अपेक्षा काफी विस्तृत है। लेखक ने 1947 से 1980 तक के परिदृश्य को पूरी समग्रता में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है,

परंतु इस कोशिश में कहीं–कहीं कथा बिखरने–सी लगती है। इसमें वह कसाव नज़र नहीं आता, जो 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' की एक उल्लेखनीय विशेषता थी।

देश में घटनेवाली हर घटना से उपन्यास को जोड़ने का लोभ इसे कमजोर बनाता है। भारत–पाक युद्ध के दौरान बांग्लादेशियों के लिए बने शरणार्थी कैंप और बंगाली बाबू की कथा जैसे अवांतर प्रसंग उपन्यास की मूल कथा को बाधित करते हैं। बिस्मिल्लाह इस आरोप को नकारते हुए कहते हैं– "हमारे आपके जीवन में कोई व्यक्ति आता है, जो पता चलता है दो महीने जीवन में हैं दो महीने बाद कहीं और चला गया। आपके जीवन में आया ही नहीं। तो क्या करेंगे...? व्यक्ति के जीवन में कुछ पात्र, चरित्र, प्रसंग आते हैं, जो निरंतर बने रहते हैं और कुछ ऐसे होते हैं, जो एक अवधि के बाद बिछड़ जाते हैं।... जीवन को एक–सा देखना चाहिए।"[29]

परंतु, जीवन को एक–सा देखकर घटनाओं को जस–का–तस प्रस्तुत कर देना भर ही उपन्यास नहीं होता। उपन्यास में घटनाओं के चयन के पीछे एक उद्देश्य होता है। स्वयं लेखक भी अन्यत्र इस बात को स्वीकार करता है– "...कोई लेखक आख़िर उपन्यास विधा का चयन क्यों करता है? क्या मात्र इसलिए कि उपन्यास के रूप में कोई एक कहानी कह डाले? अपने निजी अनुभवों को कथात्मक रूप दे दे? कुछेक घटनाओं अथवा कुछेक चरित्रों को दिलचस्प बना कर प्रस्तुत कर दे?..."[30]

'मुखड़ा क्या देखे' को पढ़ते हुए बरबस ही ये सवाल सामने आ खड़े होते हैं। सब कुछ कह डालने के चक्कर में बिस्मिल्लाह कई ऐसे प्रसंग उपन्यास में शामिल कर लेते हैं, जिनका कोई उद्देश्य समझ में नहीं आता, तो कई महत्त्वपूर्ण प्रसंग अधूरे रह जाते हैं। मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि

"जीवन में आज के
लेखक की कठिनाई यह नहीं कि
कमी है विषयों की वरन् यह कि आधिक्य उनका ही
उसको सताता है,
और, वह ठीक चुनाव नहीं कर पाता है!!"[31]

ठीक चुनाव नहीं कर पाने के कारण ही लल्लू का चरित्र अनावश्यक विस्तार पा जाता है। लेखक के अनुसार, लल्लू के माध्यम से उसने मज़ाक का पात्र बन कर रह गए एक विक्षिप्त युवक की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है, परंतु हिन्दी गानों को अंग्रेजी

में गाने वाला लल्लू अपनी मार्मिक परिणति के बावजूद सहानुभूति जताने की बजाय विदूषक बन कर ही रह जाता है।

जहाँ लल्लू के प्रसंग को अनावश्यक विस्तार दिया गया है, वहीं कुछ घटनाएँ अपेक्षित महत्त्व नहीं पा सकी हैं।

उपन्यास का प्रारंभ पं. रामवृक्ष पाण्डे की पुत्री लता के विवाह के साथ होता है। बाद में लता को उसके ससुराल वाले वापस भेज देते हैं, क्योंकि विवाह के समय वह गर्भवती थी। लेखक इस घटना की प्रसंगवश चर्चा करके रह जाता है। गाँव वालों के लिए यह प्रसंग वर्जनीय हो सकता है, परंतु लेखक का यह दायित्व बनता है कि वह उन स्थितियों को उद्‌घाटित करे, जिसके कारण पंद्रह वर्ष की एक नादान बालिका विवाह पूर्व गर्भवती होती है। यह और भी ज़रूरी इसलिए हो जाता है कि लेखक ने आगे चलकर लता का विकास एक दृढ़ चरित्र की युवती के रूप में दिखाया है। इस प्रसंग के जरिए लेखक परिवार–समाज में कम उम्र की बालिकाओं के यौन–शोषण को सामने ला सकता था, परंतु यह प्रसंग अधूरा ही छूट गया है।

हालाँकि 'मुखड़ा क्या देखे' में अब्दुल बिस्मिल्लाह ने ग्राम–यथार्थ की अत्यंत सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति का प्रयास किया है, परंतु कहीं–कहीं वे नाटकीयता के शिकार हो गए हैं।

भारत–पाक युद्ध में भारत की जीत पर रनिया की प्रतिक्रिया उसके चारित्रिक विकास की दृष्टि से अत्यंत अस्वाभाविक और नाटकीय प्रतीत होती है। रनिया "उठकर बिस्तर पर बैठ गयी और अल्ली से लिपट गई। अल्ली चकित! क्या हो गया इसको? मगर रनिया ने तो पूछने का मौका ही नहीं दिया। खुद ही फूट पड़ी– 'अपना देस तो जीत गया जंग में। अउर कुछ जानते हो तुम? ई खुसी में हमारे राजा साहब गए रहे दिल्ली। समझ गए न? हमारे राजा मांडा...।"[32]

रनिया की यह प्रतिक्रिया लेखक द्वारा आरोपित प्रतीत होती है। उसी प्रकार सत्तार की बूढ़ी अम्माँ द्वारा लल्लू के कत्ल को 'गाँव–देस की मरजाद' का कत्ल घोषित करना और स्वयं रिपोर्ट लिखाने जाना भी नाटकीय हो गया है– "सत्तार की अम्माँ भीड़ से बाहर आ गईं। वे गली में अकेली खड़ी थीं और उनके हाथ–पाँव काँप रहे थे।

'हम जाइथे घूरपूर। हम लिखाएँगे रपट। नामजद । समझे? ई ललुआ का नहीं, पूरे गाँव देस की मरजाद का कतल है।'

इतना कहकर सत्तार की अम्माँ आगे बढ़ गईं। भीड़ जैसे खड़ी थी, वैसे खड़ी रही।"[33]

उल्लेखनीय है कि उस भीड़ में अजय भी खड़ा है, जिसे लेखक ने गाँव की आशा के तौर पर चित्रित किया है, परंतु अजय भी भीड़ का हिस्सा ही बना रहता है, भीड़ से अलग होकर सामने आने का कोई प्रयत्न नहीं करता।

लेखक ने एक साक्षात्कार में स्पष्ट रूप से अजय को गाँव की आशा के तौर पर प्रस्तुत करने की बात स्वीकार की है, लेकिन उपन्यास में अजय का जो चरित्र उभर कर सामने आता है, वह भविष्य के प्रति आश्वस्त नहीं करता।

यद्यपि अजय पढ़ने–लिखने में रूचि रखने वाला एवं गाँव की चिंता करने वाला युवक है। बम्हनौटी का वह एकमात्र युवक है, जो शेष गाँव वालों के साथ उठता–बैठता है और उनके दुःख–सुख में सहभागी होता है। अजय गाँव में एक पुस्तकालय खोलने की योजना भी बनाता है, परंतु पुस्तकालय के लिए प्रस्तावित स्थान यानि बिशुन भाट की दालान पर अशोक पाण्डे का कब्जा हो जाने के कारण उसका स्वप्न अधूरा रह जाता है।

अजय अशोक पाण्डे का विरोध करने की बजाय साधु–महात्माओं की शरण में जाता है, ताकि उनके सहयोग से अपनी कामना पूरी कर सके।

आज गाँव को ऐसे युवकों की ज़रूरत है, जो उसे रूढ़ियों और कुरीतियों से मुक्त कर सकें, न कि अजय जैसे युवकों की, जो पढ़ने–लिखने के बावजूद तमाम अंधविश्वासों से ग्रस्त हैं और अपनी समस्याओं का हल साधु–महात्माओं के पास ढूँढते हैं।

यदि अजय जैसे युवकों के हाथ में ही गाँव का भविष्य है, तो यह भविष्य सुखद प्रतीत नहीं होता। 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' के इकबाल की तुलना में अजय का चरित्र अत्यंत बोदा और कमजोर सिद्ध होता है।

'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' की तुलना में 'मुखड़ा क्या देखे' निस्संदेह कमजोर उपन्यास प्रमाणित होता है, परंतु इस आधार पर इसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। यूँ भी 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' से इसकी तुलना उचित नहीं प्रतीत होती। 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' अब्दुल बिस्मिल्लाह की ही नहीं, बल्कि संपूर्ण उपन्यास साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। कभी–कभी व्यक्ति द्वारा बनाए गए प्रतिमान स्वयं उसके लिए भी दुर्लंध्य हो जाते हैं। फणीश्वरनाथ रेणु न दूसरा 'मैला आँचल' लिख

पाए, न ही श्रीलाल शुक्ल 'राग–दरबारी' जैसे कृति दुबारा दे पाए। इसी प्रकार अब्दुल बिस्मिल्लाह से भी 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया' की उम्मीद हर बार नहीं की जा सकती।

अपनी कतिपय कमजोरियों के बावजूद ग्राम केन्द्रित उपन्यासों में 'मुखड़ा क्या देखें। एक महत्त्वपूर्ण स्थान पाने का अधिकारी है। ग्राम–यथार्थ की ऐसी समग्र अभिव्यक्ति हाल–फिलहाल के किसी अन्य उपन्यास में नजर नहीं आती।

संदर्भ–सूची

1 अब्दुल बिस्मिल्लाह, 'मुखड़ा क्या देखे', पृ.63
2 वही, पृ.37
3 हंसः जनवरी 1999, पृ.111
4 अब्दुल बिस्मिल्लाह, 'मुखड़ा क्या देखे', पृ.190
5 वही, पृ.115
6 वही, पृ.191
7 वही, पृ.192
8 वही, पृ.117
9 वही
10 वही, पृ.111
11 वही, पृ.115
12 साक्षात्कारः परिशिष्ट, पृ.2
13 अब्दुल बिस्मिल्लाह, 'मुखड़ा क्या देखे', पृ.113
14 वही, पृ.168
15 केशव चंद्र वर्मा, भारतीय की पहचान, पृ.26
16 अब्दुल बिस्मिल्लाह, 'मुखड़ा क्या देखे', पृ.99
17 वही, पृ.144
18 वही, पृ.228
19 वही, पृ.137
20 वही, पृ.162
21 वही, पृ.66
22 वही, पृ.211
23 कथाक्रम–6, जुलाई, 1999, पृ.79 (वीरेन्द्र यादव की समालोचना)
24 अब्दुल बिस्मिल्लाह, 'मुखड़ा क्या देखे', पृ.150
25 वही, पृ.145
26 वही, पृ.12
27 वही, पृ.81
28 अब्दुल बिस्मिल्लाह, 'मुखड़ा क्या देखे', पृ.26
29 साक्षात्कारः परिशिष्ट
30 हंसः जनवरी 1999, पृ.112
31 मुक्तिबोध रचनावली–2, सं. नेमिचन्द्र जैन, पृ.173
32 अब्दुल बिस्मिल्लाह, 'मुखड़ा क्या देखे', पृ.126
33 वही, पृ.235

संदर्भ ग्रंथ सूची

उपन्यास

अब्दुल बिस्मिल्लाह : 'जहरबाद', राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 1994

अब्दुल बिस्मिल्लाह : 'झीनी–झीनी बीनी चदरिया', राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 1990

अब्दुल बिस्मिल्लाह : 'दंतकथा', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990

अब्दुल बिस्मिल्लाह : 'मुखड़ा क्या देखे', राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 1996

अब्दुल बिस्मिल्लाह : 'समर शेष है', राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 1995

अन्य ग्रंथ

एन. के. सिंधी – वसुधाकर गोस्वामी : समाजशास्त्रः विवेचन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1997

एस. के. मिश्र – वी. के. पुरी : भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालय पब्लिशिंग हाऊस, 2000

केशव चंद्र वर्मा : भारतीयता की पहचान, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993

चंद्रदेव यादव (सं.) : समकालीन कथा–साहित्य का एक रूक्न, सद्भावना प्रकाशन, दिल्ली, 1993

बिपन चंद्र : आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, 2000

कार्ल मार्क्स– फ्रेडरिक एंगेल्स : साहित्य तथा कला, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981

नेमिचंद्र जैन (सं.) : मुक्तिबोध रचनावली–दो, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986

राजकिशोर (सं.) : अयोध्या और उससे आगे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1995

राम आहूजा : सामाजिक समस्याएँ, रावत प्रकाशन, जयपुर 1996.

राम विलास शर्मा (सं.) : राग विराग (निराला), लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1997।

पत्र पत्रिकाएँ

कथाक्रम – 6 जुलाई 1999, शैलेन्द्र सागर (सं.)

हंस, जनवरी 1999, राजेन्द्र यादव (सं.)

भारतः 2001 – प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार

परिशिष्ट

अब्दुल बिस्मिल्लाह से साक्षात्कार

राजीव : 'मुखड़ा क्या देखे' में देश की बदलती राजनीतिक परिस्थितियों, खासकर कांग्रेस के चारित्रिक अंतर्विरोध को दिखाने का प्रयास किया गया है। दयाशंकर पाण्डे के चरित्र के माध्यम से....

अब्दुल बिस्मिल्लाह : देखिए, ऐसा है कि कहीं–न–कहीं ऐसा लगता है कि कांग्रेस के अंदर भी कुछ ऐसे तत्व थे जिसका झुकाव उसी तरह की विचारधारा की तरफ था, जिसको विकसित कर रही थी, ये पार्टी जनसंघ। लेकिन, वो बहुत साफ दिखाई पड़ता नहीं था। बहुत दिनों तक एक भ्रम की स्थिति थी। कांग्रेस का जो स्वरूप प्रचारित किया गया, वो ऐसे जैसे वाकई वो एक 'सेकुलर' पार्टी है। लेकिन, धीरे–धीरे ये उजागर होता चला गया। जिन दिनों सत्ता में कांग्रेस थी, उन्हीं दिनों जनसंघ का बहुत बड़ा उभार हुआ। अचानक ऐसा लगने लगा, जैसे उन्हें (कांग्रेस को) भी साबित करना होगा कि हम भी हिंदू हैं। उसी समय भाजपा चार से छलांग लगाकर छियासी तक पहुँच गयी।

मुझे लगा कि ये आना चाहिए। राजनीति पर बात करने वाले इससे बचें या हो सकता है इतिहास लिखने वाले भी बचें। लेकिन, जो साहित्य लिख रहा है, कहीं न कहीं उसका दायित्व बनता है कि इस अंतर्विरोध को सामने लाये।

राजीव : राजनीतिक स्तर पर मुस्लिम विरोधी सृष्टिनारायण का सहयोग करने वाले दयाशंकर पाण्डे का अली के यहाँ विवाह में बिन बुलाए पहुँचना कुछ अस्वाभाविक नहीं लगता?

अब्दुल बिस्मिल्लाह : विवाह में जाने को इससे नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि वह कोई राजनैतिक मुद्दा नहीं है। वह ग्रामीण–जीवन का एक ऐसा सत्य है, जो किसी भी राजनीति से ऊपर है। वह एक बहुत ही मानवीय पक्ष है। वह एक सच्चाई है, जो कि बाद में खत्म हो गयी। वह जमाना था कि ऊपर से विभेद दिखाई पड़ता था। ब्राह्मण मुसलमान के घर का पानी नहीं पीता था, माँस–मछली नहीं खाता था। लेकिन, जो आंतरिक संबंध थे, बहुत गहरे थे। आज स्थिति भिन्न है। आज एक–दूसरे के

घर खा–पी भी रहे हैं लोग, साथ बैठ भी रहे हैं लोग; लेकिन जैसे ही वे अलग होते हैं, एक दूसरे व्यक्ति बन जाते हैं, अपेक्षाकृत ज्यादा सांप्रदायिक बन जाते हैं। विवाह में जाने का प्रसंग भारतीय मानस की उस संरचना को द्योतित करता है, जो आज नहीं रह गयी है। आज तो लोग निमंत्रण देने पर भी नहीं आते।

राजीव : आपने 'हंस' की एक परिचर्चा में 'मुस्लिम लेखन' जैसे वर्गीकरण का विरोध किया था, जबकि 'शानी' जैसे कुछ मुस्लिम लेखकों का मानना है कि मुस्लिम समाज का प्रामाणिक चित्रण मुस्लिम लेखक ही कर सकते हैं....

अब्दुल बिस्मिल्लाह : जरूरी नहीं है कि मुस्लिम लेखक को पढ़कर मुस्लिम समाज को जान पाएँ। जो मुसलमान लेखक सामने आए भी, उन्होंने अभिजात वर्ग का ही प्रतिनिधित्व किया। लेकिन, सिर्फ अभिजात वर्ग ही तो मुस्लिम समाज नहीं है? जब हम मुस्लिम समाज कहते हैं तो उसमें सिर्फ सैयद और खाँ साहब और फलाने तो नहीं होते? उर्दू में भी, जहाँ अधिकांश मुस्लिम लेखक ही हैं, मुस्लिम समाज 'टोटेलिटी' में नहीं दिखाई पड़ता। इसको आत्मप्रशंसा न समझें, लेकिन, शायद मैंने ही इन चीजों को अपनी कहानियों में और अपने उपन्यासों में उठाया है। ऐसी कम्युनिटीज को जो मुसलमान हैं, लेकिन उनकी समस्याओं में और एक हिंदू की समस्याओं में कोई फर्क नहीं है।

राजीव : संभवतः इसी कारण आपके यहाँ आर्थिक शोषण की समस्या सांप्रदायिकता से बड़ी समस्या के रूप में सामने आती है.....

अब्दुल बिस्मिल्लाह : हाँ, निश्चित तौर पर

राजीव : हिन्दु–मुस्लिम विभेद की बात करने वाले भाषा का सवाल बार–बार उठाते रहे हैं। हिन्दू–मुस्लिम विवाद को हिन्दी–उर्दू विवाद में तब्दील करने के प्रयास होते हैं। राही मासूम रज़ा आदि लेखकों ने इसे अलीगढ़ से जोड़ा है। आपने भी 'भाभी और 'भउजी' के अंतर को अलीगढ़ से निकला बताया है। ऐसा लगता है, जैसे भाषा के सवाल पर अलीगढ़ का जिक्र एक परिपाटी....

अब्दुल बिस्मिल्लाह : अलीगढ़ तो ठीक है। अलीगढ़ का भी इस्तेमाल किया गया है। इसकी जड़ तो सबसे पहले 'अंग्रेजों' ने बोई। भाषा को

दो हिस्सों में विभाजित करना और ये प्रचारित करना कि ये हिन्दी हिंदुओं की भाषा है, उर्दू मुसलमानों की भाषा है। ऐसी–ऐसी किताबें लिखी गयी हैं, जिनमें उर्दू को 'मुसलमानी लैंग्वेज' कहा गया है। कुछ लोगों ने मान भी लिया कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है, लेकिन मैं नहीं मानता। गाँव का मुसलमान कहाँ उर्दू बोलता है? वो तो वही भाषा बोलता है जो वहाँ के हिंदू बोलते हैं। बलापुर का निवासी, चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, अवधी ही बोलता है। उसी तरह आप मध्य प्रदेश चले जाइए, बिहार, आसाम या बंगाल चले जाइए...

राजीव : कुछ आलोचकों ने 'मुखड़ा क्या देखे' की चर्चा करते हुए इसकी कहानी पर बिखराव का आरोप लगाया है....

अब्दुल बिस्मिल्लाह : दरअसल, हम लोग अभ्यस्त हो गए हैं ऐसी कहानियों के जो एक ऋजु रेखा पर चलती है, क्योंकि ऐसी ही कहानियाँ लिखी जाती रही हैं। इसलिए अगर कोई 'जिग–जैग' वाली कहानी सामने आती है, तो हमें लगता है कि वो बिखर रही है। जबकि, ज़िंदगी सरल रेखा नहीं है। वो जिग–जैग है। कभी कहीं मुड़ जाती है, कभी ऊपर चली जाती है, कभी नीचे आ जाती है।

तो, जिंदगी को उसी रूप में देखें, जिस रूप में है तो जाहिर है कि लगेगा कि बिखरी हुई है क्योंकि ज़िंदगी बिखरी हुई ही है।

राजीव : कथा में कुछ ऐसे प्रसंग आए हैं, जिन्हें अधूरा ही छोड़ दिया गया है...

अब्दुल बिस्मिल्लाह : देखिए, वही है। जीवन भी ऐसा है। हमारे– आपके जीवन में कोई व्यक्ति आता है, जो पता चलता है कि दो महीने जीवन में है। दो महीने बाद कहीं और चला गया। आपके जीवन में आया ही नहीं फिर कभी। तो क्या करेंगे? उपन्यास लिखेंगे तो उसे बनाए रखेंगे अंत तक। व्यक्ति के जीवन में कुछ पात्र, चरित्र, प्रसंग आते हैं, जो निरंतर बने रहते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो एक अवधि के बाद बिछड़ जाते हैं। जीवन को एक–सा देखना चाहिए। दस पात्र ले लें, जो अंत तक बने रहें – जीवन में ऐसा नहीं होता।

राजीव : 'मुखड़ा क्या देखे' में 'लल्लू' के चरित्र पर कुछ लोगों ने टिप्पणी की है और इसे भर्ती का पात्र कहा है। लल्लू के चरित्र से आप क्या उभारना चाहते हैं?

अब्दुल बिस्मिल्लाह : किसी 'कैरेक्टर' से कुछ नहीं उभारना चाहता था। यह मैं बता दूँ आपको कि लेखक की हैसियत से कोई भी पात्र मैंने नहीं बनाया। जीवन में या समाज में तरह–तरह के पात्र होते हैं। कुछ पात्र होते हैं, जिनके चरित्र बताते हैं कि ये क्या हैं...। कुछ ऐसे भी पात्र होते हैं; गाँव या समाज में हैं, जिनका कोई अर्थ नहीं लगता कि ये क्यों हैं? लेकिन हैं। तो, अब क्या करेंगे? उन्हें गाँव से निकाल देंगे? अब हैं और उनका कोई अर्थ नहीं है तो क्या उन्हें 'नेगलेक्ट' कर दिया जाए? प्रायः ऐसे पात्रों को 'नेगलेक्ट' कर दिया गया है। मैं ऐसा नहीं कर सकता। उस पात्र की क्या विडंबना है, यह देखिए। वह कुछ बन सकता था, नहीं बन पाया। एक मज़ाक का पात्र बन कर रह गया, जबकि वो हमीं जैसा तो मनुष्य है। यही नहीं, उसके घर पर कब्जा करने की कोशिश की जा रही है। कुछ कर नहीं पाता वो। तो किस तरह एक अर्द्ध विक्षिप्त व्यक्ति को....। उसकी जिंदगी में कुछ हो ही नहीं पाता। उसका बचपन बीत जाता है ऐसे ही। उसकी जवानी बीत रही है ऐसे ही। तो, उसकी जो पीड़ा है, उसे व्यक्त किया गया तो वह भर्ती का हो गया। प्रेम कहानी लिख दे तो बहुत अच्छी चीज है साहब!

राजीव : आपके उपन्यासों में तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद एक आशावाद दिखाई देता है। 'मुखड़ा....' में भी अजय के माध्यम से आपने ऐसी कोशिश की है, परंतु यह चरित्र क्या पूर्ववर्ती इकबाल आदि की तुलना में कमजोर नहीं प्रतीत होता?

अब्दुल बिस्मिल्लाह : मान लीजिए, बीस वर्ष, पच्चीस वर्ष और तीस वर्ष एक व्यक्ति की कथा चलती है, जिसके बाद उसके यहाँ बच्चा पैदा होता है और कहानी खत्म हो जाती है, तो बच्चे का 'कैरेक्टर' कहाँ से आएगा? उस बच्चे का 'कैरेक्टर' बताने के लिए फिर अलग से कहानी लिखनी होगी। अजय नाम का पात्र प्रकट होता है– ऐसी जगह प्रकट होता है, जहाँ कहानी खत्म होती है।

राजीव : लल्लू के घर में पुस्तकालय खोलने में विफल होकर अजय का पीछे हटना पलायन माना जाए या....

अब्दुल बिस्मिल्लाह : संघर्ष की शुरूआत मानी जाए। वह जो स्वप्न देखता है और स्वप्न देखने के बाद जागता है। गीत गाती स्त्रियों को देखकर सोचता है कि, काश। यह दृश्य ओझल न हो। यह अपने–आप में क्या है आशा....

राजीव : पिछले दिनों गीतांजलि श्री, मंजूर एहतेशाम आदि कई उपन्यासकारों एवं कथाकारों ने हिंदू–मुस्लिम प्रेम संबंधों को विषय के रूप में उठाया। फिल्मों में भी यह विषय हाल के दिनों में बार–बार आया। आपके यहाँ 'समर शेष है' और 'मुखड़ा क्या देखे' में भी यह है। यह फैशन का अनुकरण मात्र है या...

अब्दुल बिस्मिल्लाह : मैं तो जो लिखता हूँ, वो न सोच कर लिखता हूँ और न पढ़कर लिखता हूँ। जो कुछ देखा है, जो कुछ जिया है– उसके बहुत से बिंब हैं, मस्तिष्क में, वो आते रहते हैं। मैं तो ये पसंद ही नहीं करता कि फैशन के कारण कोई काम करूँ। फिल्मों में, उपन्यासों में हमेशा एक फैशन तो रहा है। एक जमाने में उपेन्द्रनाथ अश्क ने किताब ही लिखी थी– 'हिन्दी कहानी और नया फैशन'। कोई भी चीज धीरे–धीरे फैशन तो बन जाती है कि एक ने ऐसा दिखाया तो हम भी ऐसा दिखाएँ। लेकिन, पाठकों और आलोचकों का यह धर्म है, कर्तव्य है कि वो देखें कि कौन सी चीज वस्तुतः फैशन के तौर पर आई है और कौन–सी चीज स्वाभाविक तौर पर। यह काम भी आलोचना का है। फैशन तो वह है जो बदलता रहता है तो, यह भी देखना चाहिए, एक लेखक पर विचार करने के क्रम में कि क्या वह बदलता रहा है? आज तो फैशन है, 'समर शेष है' के समय तो फैशन नहीं था? झीनी–झीनी बीनी चदरिया' में क्यों नहीं है? 'जहरबाद' में क्यों नहीं है? जहाँ था, वहाँ आया, जहाँ नहीं था, वहाँ नहीं आया।